

मानवता का अस्तित्व-संरक्षण

जब से मानवता की उत्पत्ति हुई है तभी से इस के भौतिक अस्तित्व को खतरा किसी न किसी रूप में बना रहा है। प्रारम्भ में यह भय खतरनाक पशुओं, बीमारियों, विपक्षी गुटों के साथ होने वाली मुठभेड़ों, प्राकृतिक आपदाओं इत्यादि से था। मगर हम अपनी विलुप्ति के कगार से उबर कर वह पड़ाव तब भी पार कर गये थे जब इस ग्रह पर हमारी संख्या मात्र दो हज़ार के पास ही रह गई थी। मगर अब, जब हम परमाणु अस्त्रों के ढेर पर बैठे किसी पागल मगर सक्षम व्यक्ति द्वारा इसे पलीता लगाये जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, तो यह चुनौती अत्यधिक भयावह जान पड़ती है, भले ही हम में से कुछ बचे रह जाएँ और नए सिरे से शुरुआत कर लें। मगर मानवता के भौतिक अस्तित्व के लिए इस से भी बड़ी चुनौती के रूप में एक अन्य प्रकार का विस्फोट हमारे सामने हो रहा है जिस से हम उदासीन हैं; और वह विस्फोट है - जनसंख्या विस्फोट। इस विचार का आधार कोई गहन रहस्य न हो कर एक साधारण सी सोच है कि परमाणु अस्त्रों की तबाही की क्षमता से हम परिचित हैं। इस लिए शायद हम इतने भयावह युद्ध का खतरा मोल लेने से बचे रहें। मगर जनसंख्या विस्फोट द्वारा होने वाली क्षति का असर काफी वर्षों बाद सामने आयेगा, और तब तक किसी प्रकार का नियंत्रण प्रभावहीन हो जायेगा।

उपरोक्त चुनौतियाँ बेशक बहुत ही बड़ी हैं, मगर यदि इन्हें खारिज भी कर दें तो क्या मानवता के अस्तित्व को कोई चुनौती नहीं है ? कभी न कभी, सुदूर में तो इस ग्रह से जीवन का पूर्णतया अंत होना निश्चित ही है, मगर तब तक मानवता का भौतिक स्वरूप तो शायद बचा ही रहे। लेकिन चिंता का दायरा थोड़ा और बड़ा करें तो मानवता के भाववाचक रूप को चुनौती भी कम विचारणीय नहीं है। इस सन्दर्भ में मानवता शब्द की परिधि में मानवता के सभी आदर्श, गुण व मूल्य आते हैं, न कि मात्र करुणा, दया व अनुकम्पा। मानवता का भाववाचक स्वरूप इसके भौतिक स्वरूप से पहले कभी विलुप्त नहीं होगा। जीवन मूल्यों में उत्थान या पतन तो होगा, मगर ये कभी नदारद नहीं हो सकते। मगर मानवता का भौतिक स्वरूप इसके भाववाचक स्वरूप के बिना कितना नीरस और निरार्थक होगा, यह बताने की आवश्यकता नहीं है ! और एक सीमा के नीचे इन मूल्यों, कर्तों कीमतों का पतन मानवता की एक तरह से विलुप्ति ही होगी। हम मानवता को तब तक ही संरक्षित मान सकते हैं जब तक मानव मूल्य उचित सीमा में विद्यमान हैं। मानवता के भाववाचक स्वरूप का संरक्षण इस लिए भी आवश्यक है क्योंकि इसी में भौतिक स्वरूप के संरक्षण की कुँजी है।

मानवता के भाववाचक स्वरूप के जोखिम भी नए नहीं हैं। नेकी और बदी के बीच की जंग निरंतर रहती है। हम चाहे यह सोच कर कितना भी संतुष्ट हो लें कि अंत में जीत अच्छाई की ही होती है, मगर नेकी के बदी के साथ हुए अनेकों विजयी संघर्षों के बावजूद भी बदी की उपस्थिति दर्शाती है कि कोई भी विजय स्थाई नहीं है। और यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो हम पाएंगे कि बदी इतनी शक्तिशाली पहले शायद ही कभी रही हो जितनी कि आजकल है। शायद यह इस लिए है कि माजी में बुद्धिमत्ता एवं ज्ञान का स्तर आज जितना पहले कभी नहीं रहा। इस दौर की समृद्धि ने शिक्षित लोगों की संख्या में बहुत वृद्धि की है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से हुई अनेकों खोजों ने ज्ञान का स्तर भी अपेक्षाकृत अत्यधिक बढ़ा दिया है। ज्ञान और बुद्धिमत्ता में यह बढ़ौतरी के कारण लोगों की सोचने समझने और विश्लेषण की क्षमताओं में भी वृद्धि होना स्वाभाविक है। मगर इस के साथ हम में चतुराई और दोगलेपन के स्तर में भी बढ़ौतरी हुई है। अब हम बेईमानी से होने वाले सामयिक लाभ का और नैतिकता अपनाने के लिए आने वाली लागत का मिलान और तुलनात्मक विश्लेषण करने में अधिक सक्षम हो गये हैं। मगर हमारा लालच और तंग नजरिया बेईमानी के अल्पकालिक भौतिक लाभ से आगे देखने ही नहीं देता और हम इस के दीर्घकालीन परिणाम और उच्च लागत का अनुमान नहीं लगा पाते। अतः जब तक बेईमानी के फायदों को नैतिकता की लागत से कम नहीं किया जाता तब तक मानवता के अस्तित्व-संरक्षण पर खतरा बना रहेगा।

एक समय था जब नैतिकता का संरक्षण अध्यात्मिक गुरुओं और धार्मिक शिक्षा द्वारा किया जाता था। कुछ हद तक तो यह अभी भी कारगर उपकरण है, मगर वैज्ञानिक सोच के प्रसार ने अध्यात्म पर विश्वास कम कर दिया है। अब तो धार्मिक क्रियाएं आम जनता को धोखे में रख कर धूर्त लोगों द्वारा अपना उल्लू सीधा करने का साधन मात्र बन कर रह गयी हैं। वे धर्म के नाम पर कट्टरवाद, नैतिकता और अध्यात्म के स्थान पर साम्प्रदायिकता का व्यापार कर सौहार्द की वजाए संकीर्णता फैलाते हैं, और सोच का दायरा बढ़ाने की वजाए अन्धविश्वास फैला कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। अब तो धर्म मानवता के घावों पर मरहम लगाने की वजाए उन्हें और कुरेदने का काम करने लगा है। लगभग सभी धर्मों का मूल सिद्धांत किसी काल्पनिक ईश्वर की अथाह शक्तियों के गुणगान करना है, जिसकी पूजा अर्चना से इंसान द्वारा किये गये पाप धुल जाते हैं। इस तरह अनुगामीयों को लगने लगता है कि प्रार्थना से वे अपने पाप धुलवा सकते हैं, जिस धर्म द्वारा पाप के साथ जोड़े गये दंड का प्रावधान नगण्य हो जाता है। शायद इसी कारण आज जनसंख्या के एक विशाल भाग के धार्मिक होने के बावजूद नैतिकता का पतन हुए जा रहा है। सरकारी एजेंसियां और प्राधिकारी तो बस कानून एवं व्यवस्था का ही ध्यान रख सकते हैं। मगर ये, विशेष कर पछड़े देशों में, इतना कर पाने में भी सक्षम नहीं हैं।

संभावित चुनौतियाँ

ध्यान देने योग्य क्षेत्र तो बहुत से हैं, मगर चलिए पहले अत्यंत अहम बातों पर केन्द्रित किया जाये। यहाँ इस चर्चा में तो अति नाजुक मसलों की स्थिति को समझने और इन का समाधान ढूँढने के प्रयास पर अधिक बल दिया गया है। मेरी समझ में तो दो सले, एक भ्रष्टाचार और दूसरा अविवेक अति शीघ्र ध्यान की मांग करते हैं, जिन पर नियंत्रण से अन्य जटिल समस्याओं का समाधान भी सम्भव हो जायेगा। अतः अभी इन दोनों पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है; बेशक कुछ भौतिक खतरों वाली चुनौतियों पर विचार करना भी असंगत नहीं होगा।

भ्रष्टाचार

मानवता के लिए भ्रष्टाचार सदैव ही बड़ी चुनौती रही है। इस समय तो यह सुचारु प्रशासन प्रदान करने में मुख्य बाधा सिद्ध हो रहा है। मोटे तौर पर भ्रष्टाचार के दो प्रकार उजागर होते हैं; समाज में भ्रष्टाचार और शासन व प्रशासन में भ्रष्टाचार। मैंने यहाँ केवल शासन व प्रशासन में भ्रष्टाचार की चर्चा पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। मेरा मानना है कि सुचारु शासन के माध्यम से समाज के भ्रष्टाचार पर नियंत्रण पाया जा सकता है। ऐसे किसी भी प्रबंध, शासन, युग, या क्षेत्र की कल्पना नहीं की जा सकती जिस में भ्रष्टाचार पूर्णतया विलुप्त रहा हो या रहे। मगर इस पिशाच की शक्ति की मात्रा समय और क्षेत्र के अनुसार कम या अधिक हो सकती है। भ्रष्टाचार शब्द का अर्थ भी भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न होगा। सार्वजनिक क्षेत्र का एक कर्मचारी सरकारी काम से यात्रा करता है। उसे टैक्सी की पात्रता है, मगर वह कुछ दूरी टैक्सी से तय करता है और कुछ रिक्शा से। उसका टैक्सी पर सौ रुपया खर्च होता है और सौ ही रिक्शा पर। मगर मान्य सरकारी रेटों पर उसे टैक्सी के 75 रुपये और रिक्शा के भी 75 रुपये ही मिलेंगे। वह अपना बिल इस तरह से बना लेता है कि टैक्सी की दूरी बढ़ा कर और रिक्शा की यात्रा कम दर्शा कर अपने द्वारा खर्च किये गये 200 रुपये की पूर्ति कर लेता है। हम में से ज्यादातर इस कार्य को नैतिक तौर पर सही घोषित करेंगे, जबकि वैधानिक दृष्टिकोण से यह सही नहीं माना जायेगा। और यदि वह पूरा रास्ता रिक्शा से ही तय कर ले और टैक्सी क्लेम कर ले ? हम में से कुछ तो इसे इस आधार पर उचित ठहरा सकते हैं कि टैक्सी की पात्रता होने के बावजूद रिक्शा का कष्टप्रद सफर भी तो उसी ने सहन किया है, जिसके इवज में वह पूरा पैसा ले सकता है। और उस अधिकारी के बारे में क्या कहा जाएगा जो अपनी यात्रा इस तरह से व्यवस्थित करता है कि वहाँ अपना निजी काम भी कर आए और सरकारी भी, और यात्रा को सरकारी घोषित कर इस का पूरा व्यय सरकार पर डाल दे ?

हम कुछ अनैतिक काम ऐसे भी करते हैं जिन की अनैतिकता का हमें अहसास ही नहीं होता। अपने कार्यालय से लाभान्वित व्यक्तियों से उपहार स्वीकार करना, काम के समय गप्पें हांकना, अपने प्रिय जनों के कसों को प्राथमिकता देना इत्यादि ऐसी अनैतिकता की कुछ उदाहरण हैं। ऐसे छोटे मोटे भ्रष्टाचार के बारे में तो ज्यादा कुछ नहीं किया जा सकता, सिवाय इस के कि नैतिकता व स्वःसंयम का विकास किया जाये। मगर ऐसे आदर्शों का कठोरता से पालन करने

पर कभी कभी आदर के स्थान पर खिल्ली उड़ाए जाने का सामना भी करना पड़ सकता है। और यह भी सच है कि ऐसे छोटे मोटे भ्रष्टाचार के प्रति संयम की अनुपस्थिति धीरे धीरे बड़े भ्रष्टाचार के प्रति उकसाने लगती है। मगर फिर भी ऐसी छोटी मोटी हरकतों को तो स्वच्छ समझे जाने वाले देशों में भी गंभीरता से नहीं लिया जाता। भारत जैसे देशों में तो ऐसी हरकतों को भ्रष्टाचार के दायरे में लाने की कोशिश करना ही आप को सार्वजनिक उपहास का पात्र बना छोड़ेगा। तो क्या हमें केवल संगीन प्रकार के भ्रष्टाचार पर ही केन्द्रित होना चाहिए? कुछ लोग एक दम से इसका समर्थन कर देंगे, मगर यह नहीं भूलना चाहिए कि इस नगण्य से दिखने वाले भ्रष्टाचार से ही संगीन प्रकार के भ्रष्टाचार का जन्म होता है।

भ्रष्टाचार का आकार

भारत में भ्रष्टाचार का कैंसर प्रशासन के कोने कोने तक फैला हुआ है। आप आम नागरिक हैं और पुलिस के पास कोई शिकायत ले कर जाते हैं तो आप की शिकायत पर ध्यान तो अवश्य दिया जायेगा। मगर यह ध्यान आप की समस्या सुलझाने या आपकी सहायता करने के लिए नहीं, अपितु इस बात पर होगा कि आप में उस अधिकारी द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता के प्रयत्न की कितनी कीमत दे सकने की क्षमता है। आप को पता होना चाहिए कि आप को उस अधिकारी द्वारा किये गए प्रयत्नों का भुगतान करना है, न कि किये गए काम का; और वह भी उस के द्वारा तय दरों पर। अब तो अधिकारी इतने तेज़ हो गये हैं कि अभियोग पक्ष और अभियुक्त, दोनों से ही ऐंठ लेते हैं और कार्यवाही करने की वजाए समझौता करवा कर पीछा छुड़ाने का प्रयास करते हैं। कोई भी सचेत भारतीय इस समस्या की तीब्रता से अनिभिज्ञ नहीं है, मगर इस तीब्रता का स्तर व्यक्तिगत अनुभव के अनुसार कमोवेश हो सकता है। किसी को भी बस उतने ही भ्रष्टाचार का पता होता है जितने का उस ने सामना किया होता है। मगर इस का रूप कितना व्यग्र और भयावह है, यह हर कोई नहीं जान पाता।

कुछ कार्यालयों में घूसखोरी इस तरह से योजनाबद्ध है कि लोग इस का भुगतान करने के आदी हो चुके हैं। कार्यालय की कार्यप्रणाली इस तरह से पद्धतिबद्ध की गई होती है कि अपना काम करवाने के लिए आप को दलालों का सहारा लेना ही पड़ता है। लोगों को भी ऐसी घूसखोरी सुविधाजनक महसूस होती है। इस में लोगों को पहले से पता लग जाता है कि कितनी फीस देनी है, क्योंकि दलालों को रेट पता होते हैं। कार्यालय में कार्यरत सभी लोगों को अपने अपने पद के अनुसार हिस्सा पहुँच जाता है। और यदि आप हिम्मत करके अपना काम दलालों के बिना करवाना चाहें तो आप अपने बाल नोचते नज़र आएंगे। इस की उदाहरण मेरा अपना

अनुभव है, जब मेरे पास ऐसा एक काम करवाने के लिए चार माह की मोहलत थी, और विचौलियों द्वारा यह काम एक सप्ताह में संपन्न करवा लिया जाता था। मुझे पूरे चार महीने की भागदौड़ के बाद भी काम होने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे थे। मगर सौभाग्यवश उस कार्यालय के एक भले वरिष्ठ अधिकारी के हस्तक्षेप से मेरा काम बिना कुछ लिए हो गया। मेरा काम इस लिए हो गया कि एक तो मेरा केस शीशे की तरह साफ था, और दूसरे वह अफसर भले स्वभाव का था और इतने दिनों से मेरे चक्कर लगते देख कर तरस खा गया। मगर आम लोगों के साथ ऐसा कहाँ होता है ? ऊपर से बिना वजह की बेढंगी और फूहड़ सी इतनी सारी औपचारिकताएं पागल कर छोड़ती हैं।

इस नासूर की जड़ें कहाँ तक फैली हुई हैं इस का पता इस बात से चलता है कि कुछ मामलों में, या यूँ कहिये कि अधिकतर मामलों में, इस भ्रष्टाचार में उस कार्यालय के ऊपर से नीचे तक सभी लोग मिले हुए होते हैं। और संबंधित पब्लिक को भी इस बात का पता होता है। 1986 में मैं दिल्ली से लुधियाना दफ्तर का कुछ सामान ले कर एक ट्रक में आ रहा था। पहले हरियाणा, और फिर पंजाब में उस ट्रक को हर जिले में कागज पत्र चेक करने के लिए रोका जाता रहा। मगर रोकने वाला सिपाही कागज देखने की वजाए एक कापी की मांग करता, जो ड्राइवर ने इसी काम के लिए लगा रखी थी। ड्राइवर उस कापी में 10 का नोट रख देता था। सिपाही नोट जेब में डालता और कापी में कुछ लिख कर वापिस कर देता था। इस तरह से उस जिले में उस ट्रक को बिना संबंधित कागजात के यात्रा का परमिट मिल जाता था। उस के बाद जिले के अंदर पूरे रस्ते में जो भी सिपाही उसे रोकता वह उसे कापी पर लिखा दिखा देता, जिसे देख कर उस से और कागजों की मांग नहीं की जाती। मेरे जिज्ञासा वश पूछने पर पता चला कि चेक्किंग वाले सभी सिपाहियों को एक कोड दिया जाता था जो वे कापी पर लिखते थे, जिसका अर्थ था कि विभाग को 'फीस' मिल गई है। उस कोड का 'दुरुपयोग' रोकने के लिए उसे हर माह बदल दिया जाता था। सभी ट्रक वाले इस चलन से वाकिफ थे और खुशी से भुगतान कर रहे थे। हम सभी जानते हैं कि ट्रक वालों के लिए कानूनी औपचारिकताएं पूरी कर पाना कितना कठिन है। भारत में कोई ट्रक वाला ट्रैफिक नियमों का कड़ाई से पालन कर मुनाफा नहीं कमा सकता है और पक्का घाटे में ही जायेगा। इस मजबूरी का फायदा कानून के रखवालों द्वारा अपने कर्तव्य को ताक पे रख धडल्ले से उठाया जाता है। और यदि कोई कहे कि इस सब का पता प्रशासन या मंत्रियों को नहीं होगा तो उस से बड़ा उल्लू शायद ही कोई हो।

इस समस्या का समाधान उतना कठिन नहीं है जितना दीखता है; यह उस से कहीं अधिक कठिन है। ऐसा नहीं है कि ऐसा चाहने और कर सकने वालों की कमी है, ऐसे लोग बहुत हैं। मगर इस में बड़ी वाधा है कि ऐसे लोगों को मौका नहीं दिया जाता। एक गंदी मछली पूरे तालाब को गंदा कर सकती है, मगर एक साफ़ मछली गंदे तालाब को साफ़ नहीं कर सकती;

गंदी मछलियाँ उसे ऐसा करने नहीं देंगी । और साफ़ सुथरी मछलियों की कमी भी नहीं है, बस वे चाहते हुए भी तालाब में नहीं घुस सकतीं । और यदि कोई इक्का दुक्का घुस भी आये तो उस की सुनेगा कौन ? जितने भी धनदायक पद हैं लगभग सभी की एक कीमत होती है । इस लिए ऐसी नियुक्तियों के प्रति आकर्षण केवल भ्रष्टाचार के सौदागरों का ही हो सकता है । केन्द्रीय सरकार में तो फिर भी कुछ ठीक है, मगर प्रादेशिक सरकार के कार्यालयों का तो बस भगवान ही मालिक है ।

जब आप देखते हैं कि बेईमान और अयोग्य, मगर चमचा किस्म के लोग आप की अपेक्षा अधिक सफल हुए जा रहे हैं तो आप को अपने पर नियंत्रण रखना अपने आप में एक चुनौती होगी । भीड़ में शामिल हो कर लाभ उठाने से संकोच करने के लिए भी बड़ा जिगर चाहिए । यदि कोई ऐसे प्रलोभनों से बच भी जाये तो अपनी उपेक्षा और अयोग्य लोगों को मिल रहे प्रोत्साहन के कारण उत्पन्न होने वाले क्रोध पर काबू पाना और भी मुश्किल होगा । चलो आप फिर भी यह सोच कर बचे रहना चाहते हैं कि गंदगी से दूर रहने की कीमत चुका रहे हैं, मगर यदि आप का भ्रष्ट सीनियर आप के ऐसे निष्कपट व्यवहार और उसके छोटे कृत्यों में आपका साथ न पा कर खफा हो जाये और बिना वजह ही डांट फिटकार करने लगे तो आप की प्रतिक्रिया क्या होगी ? आप कहोगे कि उसकी ऐसी हरकतें उसके सीनियर अधिकारियों को बतानी चाहियें । पहले तो आप की नौकरी के नियम ही ऐसे हैं कि आप अपने सीनियर की शिकायत नहीं कर सकते, हालाँकि अभी सरकार ने इसमें कुछ ढील भी दी है । और यदि आप में नौकरी का परित्याग कर शिकायत करने हिम्मत भी है तो भी आप कुछ खास नहीं कर सकते । इस मामले में मेरा अपना अनुभव अत्यंत दुखद रहा है । मैंने भी अच्छी खासी नौकरी को तिलांजली दे कर अपने ऐसे सीनियर की शिकायत करने का फैसला लिया था कि कैसे वह दवाब डाल कर संस्था के हितों के विपरीत अपने हितों की पूर्ति करने के लिए मेरा सहयोग चाहता है । मगर किसी ने भी उस के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की । बल्कि उस के समीपी सीनियर तो उसे बचाने के प्रयास करते नज़र आए । और जिस विभाग से उस के विरुद्ध कार्रवाई की आकांक्षा थी वह भी अपराधिक सीमा तक उदासीन रहा । और यह उदासीनता नीचे से ऊपर तक बनी रही; प्रधान मंत्री कार्यालय समेत ।

तो क्या इस दानव को नकेल डालने का कोई ढंग नहीं है ? क्या इस बुराई की जड़ काटने के सभी प्रयास व्यर्थ ही होंगे ? कम से कम मैं तो इतना निराशावादी नहीं हूँ । और अधिकांश आम जनता की सोच भी अभी आशावादी ही है, चाहे कितना भी सुनने को मिले कि स्थिति हाथ से निकल चुकी है । मैं ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल की इस रिपोर्ट से भी सहमत नहीं हूँ कि हर तीसरा भारतीय भ्रष्ट है । हाँ, सरकारी कर्मचारियों के लिए मैं इत्तफाक रखता हूँ, बल्कि उनके लिए तो यह कमबयानी होगी । आम जनता भ्रष्टाचार फैलाने में भागीदार तो है, मगर स्वेच्छा से नहीं ।

अधिकांश लोगों के लिए तो रिश्वत देना मजबूरी ही है। हाँ, कुछ चतुर लोग लोक संपदाओं की लूट में से कुछ भाग घूस के रूप में दे कर अपना उल्लू सीधा जरूर कर लेते हैं। बेशक घूसखोरी अभी और फलफूल रही है, मगर इस के बढ़ने में आम जनता की सहमती पूरी तरह से नहीं मानी जा सकती। भ्रष्ट समाज में रहने वाला व्यक्ति या तो स्वयं भी भ्रष्ट हो जायेगा या इस का आदि हो कर स्थिति से उदासीन हो जायेगा। इसी तरह एक भ्रष्ट मनुष्य को यदि स्वच्छ वातावरण में स्थानान्त्रित कर दिया जाए तो कुछ अपवादों को छोड़ कर उस में सुधार आना नैसर्गिक है। आम नागरिकों का भ्रष्टाचार के प्रति रवैया या उदासीनता समाज के भ्रष्ट वातावरण या भ्रष्टाचार से होने वाले क्षणिक लाभों पर निर्भर करता है। यदि इस वातावरण या स्थिति को पलट दिया जाए तो पलड़ा ईमानदारी की ओर झुक जायेगा। मैं समझता हूँ कि एक भ्रष्ट अधिकारी किसी चोर, डाकू, ठग या जेब कतरे से भी अधिक घृणित व्यक्ति है, क्योंकि वह विश्वासघाती भी है। ऐसे व्यक्ति के प्रति समाज का व्यवहार कम से कम उन के प्रति व्यवहार जैसा तिरस्कार, उपेक्षा और अवहेलना से भरा तो होना ही चाहिए। मगर जिस समाज में ऐसे व्यक्ति अपनी दो नंबर की कमाई की डींगें हांकने के बावजूद मान सम्मान पा रहे हों उस समाज में स्वच्छता का संचार होना बड़ी टेढ़ी खीर है।

भ्रष्टाचार अनुमूलन

इस समस्या के तत्काल से तैयार सटीक समाधान होने की आशा करना एक बच्चे द्वारा चाँद की मांग करने जैसा ही है। और मेरे जैसे साधारण सी बुद्धि वाले व्यक्ति से ऐसी आशा करना तो विश्वनाथन आनंद से कुश्ती का दंगल बिना किसी मैच फिक्सिंग के जीतने की आशा करने के तुल्य है। राष्ट्र के पास तो प्रशासन, प्रबन्धन और राजनैतिक सुधार के क्षेत्रों में क्षम्य प्रतिभाओं का विशाल भंडार मौजूद है, जिन में स्पष्ट विधान बनाने की प्रबल योग्यताएं हैं। मेरी आँकात तो उन के पास फटकने की भी नहीं है। वास्तव में मुझे विश्व में प्रचलित विभिन्न राजनैतिक प्रणालियों का भी पूरा ज्ञान नहीं है। मगर मुझे हैरानी होती है कि इतने कुशल और सक्षम लोगों की मौजूदगी और इतनी सारी राजनैतिक प्रणालियों की उपलब्धियों के बावजूद भी हम इस समस्या के समाधान के प्रति इतने अनभिग्य क्यों हैं। क्या हम इस से छुटकारा पाना ही नहीं चाहते? मेरे ख्याल में तो ऐसा सोचना भी मूर्खता ही होगी। भ्रष्ट वातावरण में तो कोई भी ऐसा नहीं होगा जिस का दम न घुटता हो; और इन में भ्रष्टाचार के सौदागर भी शामिल हैं। वे दूसरों की तुलना में कम प्रभावित तो हो सकते हैं, मगर कभी न कभी वे भी भ्रष्टतन्त्र की पीड़ा से गुजरने को विवश हो जाते हैं, विशेष कर जब किसी दुसरे कार्यालय में काम पड़े तो। अपने कार्यक्षेत्र में भी उन में से कई तो मजबूरन भ्रष्ट होते हैं, क्योंकि अपने सीनियर का साथ देना पड़ता है। भ्रष्टाचार का यह दैत्य काबू में आने की वजाए दिनों दिन और शक्तिशाली होता जा

रहा है। जब इतने बड़े बड़े विशेषज्ञ इसे वश में करने में सफल नहीं हो पाए तो मेरे जैसों की तो विसात ही क्या है। यहाँ मेरा मनोरथ इस क्षेत्र के विशेषज्ञों का ध्यान इस समस्या की तरफ समय रहते आकर्षित करने का है, नहीं तो, हो सकता है कि बहुत देर हो जाये।

समस्या की पहचान करना

किसी भी समस्या का कोई न कोई समाधान होता ही है, बल्कि कई समाधान हो सकते हैं। मगर सफलता की मात्रा समस्या की सही पहचान करने के बाद सर्वोत्तम समाधान का चुनाव कर लेने पर, और फिर उसे उचित ढंग से लागू करने पर निर्भर करती है। किसी समस्या के समाधान के लिए ये पग उठाना सही होता है:- समस्या की पहचान करना, समस्या के निरंतर कायम रहने के मूल कारणों का पता लगाना, कारणों की रौशनी में विभिन्न समाधानों की पहचान करना, सही समाधान/समाधानों का चुनाव करना, चुने गये समाधान को लागू करना, और लागू किये गए समाधान की समुचित निगरानी करना। भारत जैसे देश में तो भ्रष्टाचार की समस्या इतनी दैत्यकार है कि इसे एक ही बार में पूरा पहचान पाना या समझ पाना संभव नहीं है। हमें इस के विभिन्न घटकों को पहचान कर उन की अलग अलग मरम्मत करनी पड़ेगी और रिसाव के छिद्रों पर निरंतर नजर रखनी होगी और उन्हें बंद करते रहना होगा। इस मसले के अनगिनत घटकों की पहचान करना और फिर उन का इलाज करना कोई आसान कार्य नहीं है। इस के लिए बहुत से लोगों द्वारा मिल कर बुद्धि उतेजन (Brain Storming) का प्रयोग करके अच्छा समाधान ढूँढने की आवश्यकता होगी, ना कि व्यक्तिगत स्तर पर इसे सुलझाया जा सकेगा। इस कारण मैं यहाँ समस्या के छोटे से भाग पर ही चर्चा करूँगा और यथा सम्भव समाधान भी दूँगा। मगर समस्या का बड़ा भाग तो विशेषज्ञों के लिए ही छोड़ना पड़ेगा। मेरी मंशा तो जन साधारण को इस परेशानी के बारे में चेतन कर इस के प्रति संवेदनशील करने की है, जिसके बाद इस से छुटकारा पाने के अनेकों रास्ते वे स्वयं ही ढूँढ लेंगे। मेरे द्वारा यहाँ दिए समाधान बुद्धिजीवियों के लिए हंसी उड़ाने का स्रोत हो सकते हैं, मगर खिल्ली उड़ाने की वजाए यदि बेहतर समाधान सुझाएँ तो कुछ बात बनेगी। और यदि मैं विशेषज्ञों को ऐसा करने के लिए उकसा पाया तो अपने को सफल समझूँगा। मेरे सुझाव आज के हालात के हिसाब से व्यावहारिक नहीं भी लग सकते, मगर उन में से कुछ, या सभी आंशिक रूप में तो व्यावहारिक हो सकते हैं। अतः जो व्यावहारिक हैं उन पे अम्ल किया जा सकता है और जो अव्यवहारिक हैं उन्हें निलंबित या रद्द किया जा सकता है। मैंने ये समाधान ढूँढने का सरल सा ढंग अपनाया है। और वह है कि समस्या के निरंतर बने रहने के कारणों का विवेचन करना और और उन का रास्ता रोकना। किसी भी समस्या का समाधान समस्या के कारणों के भीतर ही छिपा होता है। अतः समाधान

ढूढने के लिए हडे सडसुडड के कडरणु कड डतड लडडडड डडेडड । डडतनी सटीक कडरणु कड डहकडन हुगुड डतनड हड कडरणु सडडडडन हुगड ।

डुरषुडडडर कड डूल कडरण

डडड डुरषुडडडर के कडरणु के डडरे एन सरुवकुषण कडरुवडड डडडे तु डनगडनत कडरण सडडने आएंगे, डैसे सरकडरु कडरुडडडरुडु कड कडड डेतन (डु न तु डडनतड हू कड डेतन कडड हड और न हड डेतन कड कडडु कु डसकड कडरण डडनतड हू । डलटे, डेरड डडननड हड कड डेतन कड डडकतड रडशुवत कड डडडरु डु डडडुतरु कडरुतु हड ।), नुडतडकतड कड कडडु, नडडडडरण तनुड कड कडडडुडरु डुतुडडडड । डडरण डेरु डुरषुडडडरु डु सडड से डडड, डलुक डूल कडरण हड सडडडुधडत कडरुडडडरु कड डह डड डुरडुत कडरुने के लडए आने डडलु लडगत । डनडुरडडडरु डडु कड डकडडत हुतुड हड, डु डक डडडडनडर डुडकडड न तु डे डडडेडड और न हड डेनड डडहेगड । डह कडडडत नकड डु डुकडरुडु डड सडकतुड हड और रडडनुडतडुडु से सडडडुधु के रूड डु डु डु । और डस कडडडत कड डुरडडरु डड डड डु कडरुनड हड डडडुतुड हड । और डह सुडकनड कड रडडनुडतडुडु कु डुरषुडडडरु डडडरुडुडु डुर लडगडड कडसनुड डडडरु, शुक डडलुलु डडलु सुडक हड हुगुड । डुरषुडडडरु तु रडडनुडतडुडु कड डु डडडुडरु हड । कडड डनुहु डुनडड डु डडरु डडरुडु नहुडु कडरुनड डडडत ? डडतनड डेतन डक सडसड कु डसकु डुरु डुनडड डुडधड डु डडलतड हड डस से डडडक डुडड तु डुनडड डुरडडरु डु हड डडतड हड । और डडर डुतनड डुडड कडरु के डु डुनड डडनड डडकड तु नहुडु हड नड । डस लडए डस डुडड कड डुरडडरु तु डक डडरु के डुडड से कडु गुनड डडडक हुडनु डडडरु नड । कडड डह डुरडडरु नुडतडक कुरुतुडु से सडडड हड ? डडर डडड डु डह डुरडडरु, और डुनडड डडरुने डुर डुडड के डुडरुथ डडने के डुडडडड कड डुरडडरु डु डडरु लु तु कडड डडड तुडड डडडनड डडडत हड ? और डह सुडकनड कड डुनडड कड डुडड तु रडडनुडतडु डडरुडुडु डहन कडरुतुडु हड, डु डुरुषुडडतड डडरु सुडक हड हड । डह डुडड डडरुडुडु कडरुतु डडडतु डुडशुड हड, डडरण गुडर कडडड डडडे तु हड डडएंगु कड डडसुतडुडकतड डस के डुडडरुडुतु हड । रडडनुडतडु डडरुडुडु केवल डनुहु डुरतुडडडरुडु डु नडडेश कडरुतुडु हड डु डडरुडु कु डेहतर डुरतडलडड डे सडकते हड । डुनडड के लडए डडडडड डडतुत डुडडक डुंग से डरुडुत कडडु डडने कड डडनुडु सुडडडं हड । और डु डुंग डुध डु हड डु डु डडरु नुडतडक तुडरु डु डहडु नहुडु डडने डड सडकते । डडरुडु डंड डु लडडड डडने डडल डन डडसुतड डु डडन न हु कड डडतडुडु कु डन डडरुडुडु डुडरु डड डडने डडलु डेडडडु कड डडरुशुरडडडक हड । डडडडत हड कड कुडु डडडडनडरु डुडकडड आगु आने कड डुरडडड डु डुरे तु डुनडड लडु तु सडकतड हड, डडरण डसके डुडतने के डुडसर नगणुड हड हुुंगु ।

डुडरुकुत डुरडरुडु कड नडरुशुकुषु हड कड डुरषुडडडरु कड नडरुनुतरतड कड डूल कडरण हडडरु गणतनुड कड सडरुडनड डु हड नडहडत हड, डडसडु डुनडड के लडए डुरतुडडडरुडु कु डतुडडडक डन कड डडशुडकतड डडडुतुडु हड । डडडकतर लुगु कड लडए रडडनुडतु डडडकल डुडडडरु डन कडरु गडु डुडु हड, डडसडु

लोकहित केवल दिखावा मात्र ही रह गया है। तो क्या हमें कोई ऐसी शासन प्रणाली अपना लेनी चाहिए जिसमें चुनाव की आवश्यकता ही न पड़े? बेशक यह भी एक विकल्प तो हो सकता है, मगर यह मौजूदा प्रणाली से भी अधिक अहितकर होगा। अच्छा तो यही होगा कि हम कोई ऐसा विकल्प ढूँढें जिसमें धन की जरूरत ही न पड़े, जिस से निष्कपट मगर सक्षम लोगों को शीर्ष तक पहुँचने में आसानी हो। वर्तमान चुनाव प्रणाली मतदाताओं को धनात्मक चयन उपलब्ध नहीं करवाती। इस समय की चुनाव प्रणाली में मतदाताओं के पास भ्रष्ट प्रत्याशियों को निकाल बाहर करने की शक्ति तो है, मगर शर्त यह है कि प्रतिस्पर्धा में कोई तो खरा उमीदवार भी हो। मगर यदि सभी भ्रष्ट हों तो वोटर क्या कर सकता है? फिर तो उन के पास एक ही विकल्प बचता है कि सब से कम भ्रष्ट को जितवाया जाये, जो कि वे यथासंभव कर भी रहे हैं। अब यदि कोई आशा रखे कि कोई इमानदार व्यक्ति इतनी बड़ी धनराशि खर्च करके, और वह भी बिना इस गारंटी के कि वह जीतेगा ही, इतने तुच्छ से वेतन के लिए, केवल सेवा भाव से आगे आ जायेगा तो यह एक अभिलाषा ही होगी, वास्तविकता नहीं। यही कारण है कि 543 सदस्यों वाली संसद में 153 सदस्य ऐसे भी चुने गये थे जिन पर आपराधिक मामले दर्ज थे; और इन में से 54 मामले संगीन थे। यह वास्तविकता भी कोई रहस्य नहीं है कि अधिकतर प्रत्याशी साफ़ सुथरे होने का केवल ढोंग करते हैं; होते नहीं। बस, केवल कपट की मात्रा का अंतर होता है। और इस के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अब यह पद पाने के लिए उन्होंने बेतहाशा धन भी तो खर्च किया है। यह तो उस सीट के साथ जुड़े अनुलाभ प्राप्त करने के लिए किया गया निवेश है, जो कि किसी इमानदार व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। जब लोगों के पास कोई अर्थपूर्ण चयन की गुंजायश नहीं होती तो वे सत्तारूढ़ पार्टी के विरुद्ध इस आशा में मतदान करते हैं कि शायद विपक्षी पार्टी ही कुछ अच्छी हो। मगर वह भी सत्ता प्राप्ति के बाद भ्रष्ट बन जाती है। और जब कुछ समय पश्चात् उन्हें किसी भी पार्टी पर विश्वास नहीं रहता तो परिणाम शंकु संसद होता है। इस तरह से चुनाव की वर्तमान प्रणाली को असफल ही कहा जाना चाहिए, जो कि बेहतर विकल्प की अनुपस्थिति में बस चली जा रही है। तो क्यों न इस प्रणाली का कोई विकल्प तलाश किया जाये? यदि हम ऐसा करने में सफल हो जाते हैं तो यह स्वच्छ प्रशासन के लिए प्रक्षेपण मंच सिद्ध होगा।

समस्या के समाधान

जैसा हम ने ऊपर अवलोकन किया है, भ्रष्टाचार का पेड़ अपने लिए वांछित पोषक तत्व चुनाव प्रक्रिया की जड़ों से लेने लगता है। इस खतरनाक नदीन की समाप्ति के लिए हमें इस की जड़ों को ही काटना पड़ेगा, जिस से इसे अनिवार्य पोषक तत्व मिलने बंद हो जाएँ। और इस के लिए हमें चुनाव प्रणाली की उत्कृष्ट मरम्मत की आवश्यकता है। जैसा ऊपर वर्णन किया गया है,

अपनी मौजूदा शासन प्रणाली खरे और योग्य लोगों को आगे लाने में असमर्थ है। और सत्ता के गलियारों में मौजूद भ्रष्ट लोग पूरे प्रशासन को भ्रष्ट ही तो करेंगे। अतः हमें कोई ऐसी प्रणाली खोजनी होगी जिस में भ्रष्ट लोगों को रोका जा सके और योग्य और ईमानदार लोगों को आसानी से आगे लाया जा सके। वर्तमान लोकतंत्र प्रणाली की सुधार प्रक्रिया में सुधार का प्रथम पग होगा संविधान में सुधार, या यँ कहें कि संविधान की सही जांच पड़ताल के बाद सम्पूर्ण मरम्मत करनी पड़ेगी। मगर यह देखने से पहले कि हमें किस प्रकार का संविधान चाहिए होगा यह तय करना अत्यधिक आवश्यक होगा कि इस मौजूदा प्रणाली में त्रुटियाँ कौन सी हैं।

अर्थपूर्ण मताधिकार

चलिए लोकतंत्र की प्रथम कड़ी, वोट शक्ति का ही अवलोकन करते हैं। चाहे हम कह सकते हैं कि लगभग सभी प्रकार के चुनावों में जनता ने विवेकपूर्ण चुनाव के संतोषजनक स्तर का परिचय दिया है, मगर फिर भी उनके द्वारा मताधिकार के वर्तमान प्रयोग को विवेकशील नहीं कहा जा सकता। अभी तक मतदाताओं की काफी बड़ी संख्या अपनी वोट की शक्ति के प्रति जागरूक नहीं है। अभी भी कितने ही मतदाता वोट का प्रयोग धर्म जाति क्षेत्र आदि के आधार पर करते हैं। 60 प्रतिशत का मतदान काफी समझा जाता है और इस बात पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा जाता कि 40 प्रतिशत अनुपस्थिति के क्या कारण हैं। इस अनुपस्थिति में बड़ी संख्या तो उन की होती है जो अपने इस कर्तव्यनुमा अधिकार के प्रति उदासीन हैं। और ऐसे मतदाता लोकतंत्र पर बोझ ही तो हैं। कारण तो और भी हैं, मगर इस उदासीनता के पीछे लोकतंत्र राष्ट्रों में, विशेष तौर पर भारत में, मताधिकार मिल जाने की सरलता का भी हाथ है। जिस व्यक्ति को पता भी न हो कि सरकार क्या है, इस का गठन कैसे होता है, यह काम कैसे करती है, उचित प्रत्याशी में क्या योग्यताएं, शिक्षा का स्तर व विशेषताएं होनी चाहियें, और विभिन्न प्रत्याशियों में से सही चयन कैसे किया जाये, उसे केवल एक विशिष्ट आयु का हो जाने के कारण ही वोट का अधिकार दे देने का क्या औचित्य है? मताधिकार के लिए भी वर्तमान योग्यता, यानि आयु, से अलग भी कुछ मूलभूत योग्यताएं अनिवार्य होनी चाहियें; मसलन, कुछ शैक्षिक योग्यताएं, या निरक्षर मतदाताओं के लिए कोई विशेष परीक्षा। मतदाता का सरकार और उसके काम करने के ढंग और लोकतंत्र प्रणालियों के प्रति जागरूक होना तो अनिवार्य ही होना चाहिए। उसे अपने मताधिकार की गरिमा और उस के उपयोग न किये जाने पर होने वाली हानि का बोध होना चाहिए। कुछ साल पहले सिविल सोसायटी की आवश्यकता के बारे में एक समाचार पत्र द्वारा किये गये सर्वेक्षण में 89 प्रतिशत लोगों ने 'हाँ' क्लिक किया था। सिविल सोसायटी है क्या? कुछ प्रभावशील व्यक्तियों का अलोकतांत्रिक गठन, जिसके पास बिना किसी दायित्व के आलोचना के असीम अधिकार हों। इस के गठन से क्या लोकतंत्र का ही परित्याग

नहीं हो जायेगा ? मगर इतनी अधिक मात्रा में इस का समर्थन इस बात का सूचक है कि लोग किसी काल्पनिक हित की आकांक्षा के भावावेश में वोट कर सकते हैं । आदरणीय अन्ना हजारे जी की मंशा को पवित्र मानते हुए भी क्या सिविल सोसायटी का गठन लोकतान्त्रिक मान्यताओं का अनजाने में होने जा रहा हनन तो नहीं था ? जब इस सर्वेक्षण में भाग लेने वाले अपेक्षित साक्षर लोग भी इस बात को नहीं समझ सके तो निरक्षर लोगों का क्या हाल होगा ? अतः बिना किसी मूलभूत योग्यता के, केवल आयु के आधार पर वोट का अधिकार मिल जाना किसी भी परिपक्व लोकतंत्र के हित में नहीं होगा । हमें ऐसा वातावरण तैयार करना पड़ेगा जिसमें यह अधिकार मुफ्त न मिले, बल्कि अर्जित करना पड़े । यह बात मौजूदा मनोदशा में तो अटपटी, अपरिपक्व, दबंगई और अव्यवहारिक लग सकती है, मगर स्वच्छ शासन प्रदान करने हेतु देर सवेर इसे अपना ही पड़ेगा, नहीं तो भ्रष्टाचार निर्मूलन के उपाय विफल होते ही दिखाई देंगे । इस समय मतदाताओं के पास इतनी शक्ति तो है कि वे भ्रष्ट सरकारों को बाहर का रास्ता दिखा सकें । मगर यह तब तक नहीं हो पाता जब तक किसी पार्टी के विरुद्ध या पक्ष में कोई लहर बन कर स्थिति विस्फोटक न हो जाये । और यदि यह लहर सत्ताधारी पार्टी के विरुद्ध बनती है तो वह पार्टी तो सत्ता से हट सकती है मगर जरूरी नहीं कि दूसरी जीती हुई पार्टी की सरकार भ्रष्ट न हो । अतः शक्ति के इन माध्यमों को युक्तिसंगत बनाने से ही हम अत्यधिक क्षति के कगार से बाहर आ सकते हैं । इस प्रस्ताव के विरोध में कहा जा सकता है कि ऐसा करने से जन साधारण के एक पड़े भाग से मतदान का अधिकार छिन जायेगा । यदि इसे लागू न करने का यही एक कारण है तो इसे हम भावी पीढ़ियों के लिए तो लागू कर ही सकते हैं; जैसे कि कोई ऐसा नियम बन जाये कि इस तिथि के बाद जन्मे बच्चे पर ये नियम लागू होंगे । इसी तरह एक तिथि तक सभी अनाक्षर लोगों के लिए एक विशेष परीक्षा पास करना जरूरी किया जा सकता है । ऐसा सिस्टम बनाने के लिए आधार नंबर से सहायता मिल सकती है । इस सुझाव के विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि गरीबी रेखा के नीचे के लोगों द्वारा साक्षरता अर्जित न कर पाने से उन के वोट की उतनी मान्यता न रह पायेगी और उनके कुशल मंगल का ध्यान कोई भी सरकार नहीं रखेगी । सच तो यह है कि उनके हितों का ध्यान यदि रखा गया होता तो आज वे गरीबी रेखा से नीचे होते ही नहीं । आज भी चुनाव के समय किये गये वादे केवल वादे ही रह जाते हैं । इस नए सिस्टम में हम उन के हितों को ध्यान में रख कर कुछ नियम संविधान में ही जोड़ सकते हैं, जिन की प्रतिपूर्ति न किये जाने पर सरकार का उत्तर्दयात्व निश्चित किया जा सकता है । वर्तमान में भ्रष्ट और योग्य लोगों को हटाया तो जाता है, मगर जब तक ऐसा होता है तब तक क्षतिपूर्ति कर पाना संभव नहीं रहता । और भ्रष्ट के जाने के बाद भी इमानदार के आने की कोई गारंटी नहीं है । वर्तमान प्रणाली के पक्ष में एक दलील और दी जा सकती है कि जो अच्छे बुरे प्रत्याशी में पहचान करने में असमर्थ हैं वे अपने किसी सलाहकार को मार्गदर्शक बना लेते हैं, जो कि प्रायः साक्षर और बुद्धिमान ही होते हैं । मगर

यह तर्क भी दोषपूर्ण ही है, क्योंकि किसी चतुर राजनीतिज्ञ द्वारा इस स्थिति का बेहतर उपयोग किये जाने के अवसर अधिक हैं। इस समय भी राष्ट्र के पास मौजूदा राजनैतिक श्रेणी से अधिक योग्य लोगों की कमी नहीं है। मगर इस सिस्टम में वे आगे नहीं आ सकते, क्योंकि वर्तमान सिस्टम का शोषण चतुर और शक्तिशाली लोगों द्वारा खूब किया जाता है। हमें कोई ऐसी प्रणाली विकसित करनी होगी जिस में सब से योग्य लोग मतदाताओं के समक्ष जा पायें और वे उन में से सबसे बढ़िया प्रत्याशी चुन सकें।

मौजूदा राजनैतिक पार्टी प्रणाली का मूल्यांकन

आज के लोकतान्त्रिक ढांचों की सबसे बड़ी कमी ही पार्टी सिस्टम है। इस सोच के पीछे तर्क यह है कि राजनैतिक पार्टियाँ लोगों द्वारा नहीं चुनी जातीं, बल्कि उन पर थोप दी जाती हैं। और ऐसा करने वाले लोग होते हैं कुछ प्रभावशाली राजनैतिक नेतागण, खास कर यदि उनके हित अपनी पुरानी पार्टी में संरक्षित न हों। ये राजनैतिक पार्टियाँ वास्तव में तानाशाही के केंद्र ही होते हैं, जिन में जी हज़ूरो की बड़ी संख्या मौजूद रहती है, जिनका काम नीति बनाने में सहयोग देना न हो कर 'नेताओं' द्वारा बनाई गई नीतियों का समर्थन करना होता है। राष्ट्रहित के मसलों में भी वे अपनी राय देने की वजाए 'हाई कमांड' के निर्देशों की पालना करते हैं; न करने पर 'व्हिप' का सामना करना पड़ता है। कुछ देशों में एक पार्टी सिस्टम भी है, जिसे वे लोकतंत्र ही मानते हैं, मगर उनका यह दावा वास्तविक लोकतंत्रों द्वारा माना नहीं जाता है। यह प्रणाली तो तानाशाही ही है। पार्टी सिस्टम की बड़ी उपलब्धि है कि पार्टियाँ कुछ आदर्शों के अधीन बनाई जाती हैं, जिस से मतदाता को अपने आदर्श के अनुसार मतदान करने में सुविधा रहती है और उसे प्रत्याशी की योग्यताओं के बारे में अधिक जानने की आवश्यकता नहीं रहती। इन योग्यताओं का ध्यान रखना संबंधित पार्टी की जिम्मेदारी होता है। मगर ये आदर्श भी कभी कभी सद्गुण की वजाए खोट ही होते हैं, क्योंकि इन आदर्शों के पीछे की मंशा राष्ट्रहित न हो कर वोट की राजनीति अधिक रहती है। और ये आदर्श भी केवल कागज़ी होते हैं और इनका वास्तविक ध्येय सत्ता ग्रहण करना होता है, राष्ट्र सेवा नहीं। और इसी का परिणाम है कि इन पार्टियों ने देश को जातिवाद, धर्म, क्षेत्रवाद और अन्यवादों में बाँट रखा है। किसी एक अकेले की ईमानदारी तो इस बदकिस्मती को बदल नहीं सकती। निर्दलीय प्रत्याशियों की प्रथा भी खास कारगर नहीं है, क्योंकि निर्दलीय सांसदों के पास वांछित प्रभाव नहीं होता।

इस समस्या का समाधान हम चुनाव समाप्ति के बाद राजनैतिक पार्टियों का अपने प्रत्याशियों पर नियंत्रण कम करने में भी ढूँढ सकते हैं। अर्थात् पार्टियों का कार्यक्षेत्र योग्य प्रत्याशी का

चयन करने तक ही सीमित कर दें, और बाद में वह अपनी मनमर्जी से काम करने के लिए स्वतंत्र हो। इस से कुछ समस्याएँ तो हल हो जाएँगी, जैसे शंकु विधानसभा की समस्या, मगर और नई उठ खड़ी होंगी। अब नेता और मंत्रियों के चयन में समस्याएं आएँगी। एक अन्य समाधान है कि हम पार्टियों के आय स्रोतों और व्यय स्वरूप पर नियंत्रण करें। मगर ऐसा करने से भी कुछ खास अंतर नहीं पड़ने वाला, क्योंकि ऐसे नियंत्रणों को अच्छे प्रशासन के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। और कोई राजनैतिक पार्टी ऐसे नियंत्रण चाहेगी भी नहीं। स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी अभी तक हम राजनैतिक पार्टियों के लेखेजोखे निरीक्षण के दायरे में नहीं ला सके हैं। किसी भी सिस्टम के अपहरण किये जाने के अवसर तो रहते ही हैं, जिस से अराजकता या तानाशाही पैदा हो सकती है। तो क्यों न हम एक नये अपरीक्षित सिस्टम को आजमा लें ? यह सिस्टम है 'दल रहित प्रणाली'। आप इस सुझाव को हास्यस्पद कह सकते हैं। हम पार्टी सिस्टम से इतने घुलमिल चुके हैं कि हमें पार्टी के बिना का लोकतंत्र हजम ही नहीं होगा। हमें हमारी पुरानी संकल्पनाओं और विश्वासों से अलग किया जाना अच्छा नहीं लगता। कापरनिकस और गैलिलियो की पृथ्वी के सूर्य के गिर्द घूमने की अवधारणा, और डार्विन के विकास के सिधांत पर भी हमारी ऐसी ही प्रतिक्रिया रही है। अतः इसे बिना परखे ही रद्दी की टोकरी में डालने की वजाएँ चलिए इस पर एक दृष्टि डाल ही लें। इस प्रणाली में भी त्रुटियाँ होंगी। मगर जब कोई भी प्रणाली त्रुटिहीन नहीं है तो क्यों न इसे भी आजमा लिया जाये ?

उचित संविधान का चयन

इस प्रणाली का प्रथम अधियाय होगा एक अच्छे से संविधान का गठन और अधिग्रहण। दल रहित सिस्टम के लिए बहुत से बदलाव करने होंगे। बदलाव क्या, यदि अच्छा प्रशासन प्रदान करना है तो संविधान भी एक निश्चित समय तक ही वैध होना चाहिए, जैसे 20 या 50 वर्ष तक के लिए। अच्छे संविधान की संरचना के लिए प्रचलित मान्यताओं के आधार पर निर्णय लेना होता है। समय के साथ मान्यताएं बदलती रहती हैं। मगर संविधान वही पुरानी मान्यताएं ढोता रहता है। माना कि संविधान में बदलाव और नवीनीकरण की व्यवस्था संविधान में की गई होती है, मगर एक अरसे के बाद इतने संशोधन हो जाते हैं कि यह चीथड़े जोड़ कर बनाया हुआ लगने लगता है। तो क्या हर्ज़ है यदि इसे उचित अन्तराल के बाद नये सिरे से बना लिया जाये ? राजनैतिक पार्टियों के लिए मौजूदा संविधान में परिवर्तन लाने में उनके राजनैतिक हित आड़े आते हैं। जैसे, सरकारी नौकरियों में जाति-आधारित आरक्षण को स्वाधीनता प्राप्ति के समय न्यय संगत समझ कर संविधान में डाला गया था, जबकि उसी संविधान में एक स्वः विरोधी धारा में कहा गया है कि सरकार द्वारा किसी भी नागरिक के साथ जाति के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। यह आरक्षण कितना भेदभावपूर्ण सिद्ध हो रहा है, इस पर बाद में

चर्चा करेंगे। फ़िलहाल सोचने की बात यह है कि किसी भी राजनैतिक पार्टी के पास इस पक्षपाती धारा को समाप्त करने का साहस नहीं है, चाहे सभी जानते हैं कि इस से समाज में फैली खाइयाँ और गहरी हुई हैं। और राजनैतिक पार्टियों ने अपने स्वार्थ के लिए इन खाइयों को तब और चौड़ा कर दिया जब ओ बी सी के नाम पर आगे और विभाजन कर डाला। और हमारी बेशर्मी देखिये, हम अब अपने को पछड़े हुआओं की सूची में शामिल करवाने के लिए आन्दोलन करते हैं, जो भारत जैसे लोकतंत्र पर धब्बा ही तो है। यदि इस आरक्षण की समय सीमा संविधान में पक्के तौर पर निर्धारित कर दी गई होती तो आज इस स्थिति से बचाव हो जाता।

एक एक समयसीमा के लिए संविधान बनाने और उस अन्तराल के बाद नया संविधान बनाने के विरोध में दलील दी जा सकती है कि समाज के किसी वर्ग या समुदाय के हितों की अनदेखी हो सकती है, जिस से उस वर्ग या समुदाय में रोष उत्पन्न हो सकता है। इस समस्या का समाधान है कि हम यह ज़िम्मेदारी एक कमिशन को सौंप सकते हैं। यह कमिशन आम जनता से राय ले कर संविधान की धाराएँ बनाये, मगर किसी धारा को सम्मिलित करने से पहले उसे दलील की कसौटी पर परख ले। इस के लिए पिछले संविधान से भी दिशानिर्देश लिए जा सकते हैं। इस कमिशन के पास संविधान को लागू करने का नहीं, अपितु केवल सिफारिश करने का अधिकार हो। इन सिफारिशों को स्वीकार करने के लिए एक स्वतंत्र मण्डल बनाया जाये, जिस के पास न्यायिक अधिकार हों। यह मंडल प्राप्त हुई सिफारिशों को जनता के बीच रखे और एक निश्चित समय सीमा के अंदर धाराओं पर आधारित एतराज़ फाईल करने को कहे। जनता द्वारा दिए गये विचारों और एतराज़ों का अध्ययन करने के बाद हर धारा का मूल्यांकन किया जाये और उसे पूर्ण रूप से लागू करने के लिए, या अधूरा लागू करने के लिए, या फिर रद्द करने के लिए निर्णय लिया जाये। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस मंडल की निर्णय लेने की प्रणाली लोकतान्त्रिक होगी। इस मंडल के पास अपनी ओर से नई धाराएँ जोड़ने की शक्ति नहीं होनी चाहिए। हाँ, यह मंडल किसी व्यक्ति के ऐसे सुझाव को रद्द कर दे जिसे वह व्यक्ति राष्ट्रहित में महत्वपूर्ण मानता हो तो वह उचित न्यायलय में लोकहित याचिका से अपने पक्ष में आदेश प्राप्त कर वह धारा डलवा सकता हो। संविधान की समयसीमा के दौरान आगे और सुधार लाने का ज़िम्मा निर्वाचित सदस्यों पर छोड़ा जा सकता है, जैसा कि इस समय भी किया जा रहा है। हाँ, वभिन्न धाराओं में परिवर्तन के लिए वोटों की वांछित प्रतिशत संविधान में ही डाली गई हो, जो कि अलग अलग मुद्दों की धाराओं के लिए अलग हो। मुझे नहीं लगता कि लोग ऐसी प्रक्रिया के प्रति उत्साह नहीं दिखायेंगे। जनता के सुझावों पर आधारित संविधान की रूपरेखा आज के संविधान की रूपरेखा से भिन्न होगी। चलिए विचार करते हैं कि यह रूपरेखा कैसी होनी चाहिए।

स्वस्थ संविधान के पहलु

हम संविधान को तभी स्वस्थ मानेंगे यदि यह हमें स्वच्छ प्रशासन प्रदान कर सके। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए बहुत से पहलुओं पर दृष्टि डालनी होगी, जिन में से कुछ पर अभी चर्चा कर लेते हैं, जबकि और बहुत से ऐसे अनछुए पहलु छूट भी सकते हैं, कि सामूहिक विचार विमर्श से ही सामने आ पाएंगे।

विधायकों की संख्या

उपयोगी व निपुण सरकार के लिए हमें निर्णय लेना होगा कि प्रबंध निकाय कितनी बड़ी होगी। प्रबंध निकाय को हम भारत के अनुसार संसद भी कह सकते हैं। सब से पहले हमें यह पता लगाना होगा कि हमें प्रभावशाली प्रशासन और कानून बनाने के लिए विधायकों की कितनी संख्या चाहिए होगी। यह संख्या इस बात पर निर्भर करेगी कि हम उनसे कौन कौन से कार्यों की अपेक्षा रखते हैं। अभी सरलता हेतु मान लेते हैं कि सांसदों की वर्तमान संख्या पर्याप्त है। मगर मौजूदा दो सदनों वाला सिस्टम, अर्थात् लोक सभा और राज्य सभा, कुछ विशेष लाभप्रद नहीं लगता। राज्य सभा की वजाए सांसदों की कार्यप्रणाली पर नज़र रखने का अलग तरीका सुझाया गया है, जिस की चर्चा आने वाले पैरों में की जाएगी। हम संसद को तीन विभागों में बाँटेंगे। पहले विभाग में केवल एक ही व्यक्ति होगा, जो राष्ट्र का मुखिया होगा। उसे हम प्रधान मंत्री या राष्ट्रपति अदि कुछ भी संज्ञा दे सकते हैं, मगर वह होगा सरकार का मुखिया। दूसरे विभाग में आएंगे मंत्रीगण, जिनका काम होगा मुखिया का हाथ बटाना। और तीसरा गुप होगा आम सांसदों का। मुखिया, या प्रधान मंत्री का चुनाव पूरे भारत की जनता द्वारा किया जायेगा। आम सांसद हरेक संसदीय क्षेत्र में से एक के आधार पर चुना जायेगा। मतदाता को एक बार में दोनों वोट देने होंगे; एक प्रधान मंत्री के लिए और दूसरा क्षेत्र के सांसद के लिए। प्रधान मंत्री को अपना मंत्रिमंडल उन्हीं निर्वाचित सांसदों में से चुनना होगा। मंत्रिमंडल के विभागों की संख्या का निपटारा संविधान में ही किया जा चुका होगा, जिस में मंत्रिमंडल में विभागों की उच्चतम और न्यूनतम संख्या निर्धारित की गयी होगी। प्रधान मंत्री को कुछ सदस्य निर्वाचित सांसदों के इलावा बाहर से ले सकने की भी छूट दी जा सकती है, मगर यह संख्या बहुत ही कम रखनी होगी। सांसद अपने में से सभा अध्यक्ष (स्पीकर) और डिप्टी स्पीकर भी चुनेंगे। आशा है इन पोस्टों के लिए प्रत्याशियों की संख्या सीमा में ही होगी, मगर यदि अत्यधिक हो जाती है तो प्रत्याशियों का चयन सीमित रखने वाले अधिकारी की सेवाएं ली जा सकती हैं, जिस का वर्णन आगामी पैरों में किया गया है।

निर्वाचन पद्धति

अगला केंद्रबिंदु होगा कि इन सांसदों की निर्वाचन पद्धति क्या हो। जैसा हम ने ऊपर विवेचन किया है, भ्रष्टाचार के लिए चुनाव में होने वाला व्यय मुख्य जिम्मेदार है। और इतना खर्चा कर के कोई ईमानदार व्यक्ति तो आगे आना नहीं चाहेगा। तो इसका समाधान है कि चुनाव पे व्यय समाप्त हो जाये। इस संदर्भ में चुनाव का खर्च सरकार द्वारा वहन किये जाने की बात बेमानी है। क्योंकि ऐसी स्थिति में भ्रष्ट प्रत्याशी अपना काला धन प्रचार इत्यादि पर लगाते रहेंगे और सरकार द्वारा प्रदान किया गया धन उस में वृद्धि ही करेगा। चुनाव पर सरकारी खर्च तभी कारगर हो सकता है यदि चुनाव रैलियों, पोस्टरों और प्रचार पर प्रतिबन्ध लगे। हमने पहले विचार किया था कि मतदान का अधिकार योग्य लोगों तक ही सीमित किया जाये। तो ऐसे लोगों को गला फाड़ फाड़ कर अपनी बात पहुँचाने का भी क्या तुक है? इस के स्थान पर मतदाताओं को प्रत्याशियों की जानकारी संचार के आधुनिक साधनों द्वारा भी तो पहुंचाई जा सकती है। मसलन, प्रत्याशी अपना चुनाव घोषणा पत्र तैयार करें और सरकार द्वारा इस उद्देश्य से बनाई गई वेब साईट पर डालें। उस साईट पर सभी प्रत्याशियों को बराबर की स्पेस मिलनी चाहिए, जिसमें प्रत्याशी की योग्यताओं का ब्यौरा भी अपलोड किया जाये। यह स्पेस भी सीमित होनी चाहिए, मगर हो सब के लिए बराबर। टी वी के सरकारी चैनलों पर भी प्रत्याशियों को अपनी बात जनता के सामने रखने के लिए विशेष झरोखा रखना चाहिए, जिसकी अवधि सभी प्रत्याशियों को एक समान मिले और समयसारणी की जानकारी समय रहते प्रसारित की जाये। और प्रिंट मीडिया के लिए एक समान स्पेस का प्रावधान हो जिस के लिए या तो निःशुल्क सेवा हो या फिर इस का प्रभार सरकार उठाये। ध्यान रहे, यह स्पेस एक समान और सीमित ही रहनी चाहिए। किसी प्रत्याशी के लिए भी निर्वाचन आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त साधनों के बाहर किये गये प्रचार के लिए दंड का प्रावधान हो, जो मात्र अयोग्य घोषित किये जाने तक ही सीमित न हो। कुछ प्रत्याशी वोटों की राजनीति के तहत प्रलोभन या झूठे वादों का सहारा भी ले सकते हैं, या जनधन का दुरुपयोग कर किये वादे पूरे करने का प्रयास भी कर सकते हैं। इस को पहले तो संविधान में ही परिभाषित किया जा सकता है, और बाद में निर्वाचन आयोग ऐसे अनवश्यक व्यय वाले वादों पर नियंत्रण कर सकता है। संविधान में कुछ ऐसे अध्याय भी जोड़ने पड़ेंगे जिस से सत्ता में आने के बाद अंधाधुन्द टैक्स लगाने और फिजूलखर्ची पर सरकार पर अंकुश लगाया जा सके, विशेष तौर पर वोट हथियाने के लिए रीझाने वाली योजनाओं पर। अपने वादे पूरे न कर सकने वाले सांसदों को उनकी सेवानिवृत्ति के बाद अन्य सांसदों को मिलने वाले विशेष रुतबे, जिसका आगे वर्णन किया गया है, से वंचित रखने का भी प्रावधान किया जा सकता है, जिस से उन के ऊपर सब्ज बाग दिखा कर लुभाने पर अंकुश लग सकेगा।

अत्यधिक प्रत्याशियों की संख्या

अब चूँकि मतदान के लिए प्रत्याशी भेजने की जिम्मेदार कोई पार्टी की नहीं होगी, ऊपर से चुनाव लड़ने के लिए कोई खर्चा करने की आवश्यकता नहीं होगी, तो ज़ाहिर है हर ऐसा गैरा नत्थू खैरा चुनाव लड़ने के लिए तत्पर हो जायेगा। और इतने लोगों के चुनाव मैदान में आने से ते पूरा खेल ही चौपट हो जायेगा। हम ने मताधिकार के लिए न्यूनतम योग्यता की बात की थी। तो ऐसी ही न्यूनतम योग्यता इतनी बड़ी जिम्मेदारी वाले पदों के लिए क्यों न हो ? हम प्रधान मंत्री और सभी सांसदों के लिए न्यूनतम योग्यताएं अधिसूचित कर सकते हैं। नामांकन पत्र में ऐसी व्यक्तिगत जानकारी के लिए कालम रखे जा सकते हैं। इस जानकारी के आधार पर, और पूर्व परिभाषित मानक मापदंडों के आधार पर, या फिर किसी परीक्षा के आधार पर, जैसा भी संविधान में, या निर्वाचन के नियमों में प्रावधान किया जाये, चुनाव आयोग, या इस कार्य के लिए गठित कोई और आयोग, इन प्रत्याशियों का एक पैनल बना सकता है। इस पैनल में से शीर्ष के, सब से योग्य, उतने प्रत्याशी निर्वाचन के लिए मनोनीत करेगा जितने चुनाव में उतारने की व्यवस्था करना आवश्यक हो। अधिकतम कितने प्रत्याशी होने चाहिए, यह संख्या कुछ भी हो सकती है, मगर यह निर्णय पहले से ही हुआ होना चाहिए। चलिए भारत में पांच की संख्या की ओर अधिक झुकाव को देखते हुए मान लेते हैं कि यह संख्या पांच रखी जाये, अर्थात पांच प्रत्याशी प्रधान मंत्री के लिए, पांच पांच हरेक सांसद के लिए। तात्पर्य है कि सांसदों के लिए हरेक निर्वाचन क्षेत्र में पांच पांच प्रत्याशी होंगे और प्रधान मंत्री के लिए पूरे भारत में पांच प्रत्याशी। और जरूरी नहीं कि दोनों पदों के लिए प्रत्याशियों की संख्या बराबर ही रखी जाये। ऐसा नहीं है कि अब भ्रष्ट लोगों के चुने जाने के अवसर शून्य हो जायेंगे, मगर अब की तुलना में बहुत कम हो जायेंगे। इस के पीछे सोच यह है भ्रष्ट लोग इतने अधिक परिश्रम के आदी नहीं होते जितना परिश्रम प्रत्याशियों की सूची में शीर्ष स्थानों तक पहुँचने के लिए वांछित होगा। और यदि कुछ एक पहुँच भी जाते हैं तो उन्हें समझदार मतदाता निकाल बाहर करेंगे। वोटिंग मशीन में एक बटन 'सभी प्रत्याशी अयोग्य' का भी अवश्य होना चाहिए। यदि सब से अधिक वोट इस बटन को मिलते हैं तो उस सीट के लिए मतदान रद्द होना चाहिए और सभी प्रत्याशियों को जीवनभर या कुछ नीयत समय के लिए चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर पैनल में आगे के प्रत्याशियों का दोबारा चुनाव होना चाहिए। उपरोक्त प्रणाली में भी त्रुटियाँ होंगी, मगर इन का ध्यानपूर्वक संशोधन अगले संविधान का गठन करते समय या मौजूदा संविधान में संशोधन प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है। यह प्रणाली वर्तमान प्रणाली से तो अच्छी ही होगी जिस में हमें ऐसे नेता भी मिल रहे हैं जो ज्योतिषियों की सलाह पर चलते हैं, दुष्ट आत्माओं से मुक्ति के लिए यज्ञ करवाते हैं, या अपने विरोधियों पर अपने विरुद्ध उनके द्वारा काला जादू किया

जाने का आरोप लगाते हैं, और वह भी इक्कीसवीं शताब्दी में और विधान सभा सदस्य जैसे उच्च पद पर आसीन होने के बावजूद !

मंत्री मंडल का गठन

उपरोक्त ढंग से निर्वाचित प्रधान मंत्री अन्य निर्वाचित सांसदों में से अपने लिए सहायक (मंत्री) चुन सकेगा। इन मंत्रियों की संख्या संविधान में ही परिभाषित हो जानी चाहिए, और प्रधान मंत्री के पास इस मंत्रिमंडल में अंधाधुंध विस्तार का अधिकार नहीं होना चाहिए। हाँ, इस नियम में सीमित सी लचक रखी जा सकती है। और इस लचक के तहत कुछ लोग बाहर से भी शामिल किये जाने का प्रावधान रखा जा सकता है, मगर इन की संख्या बहुत ही कम, और संविधान में ही परिभाषित होनी चाहिए। मंत्रियों के चयन का ढंग भी संविधान में घोषित होना चाहिए। प्रधान मंत्री के पास किसी भी निर्वाचित सदस्य को मनमर्जी से मंत्रिमंडल में लेने की स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा हो गया तो चापलूसों को मंत्रिपद मिलने के अवसर बढ़ जायेंगे, जिस का परिणाम होगा घटिया प्रशासन और तानाशाही। इस लिए चयन की प्रक्रिया में कुछ प्रतिबन्ध लगाने ही होंगे। मसलन, प्रधान मंत्री द्वारा चुने गये सदस्यों का सदन द्वारा अनुमोदन। यदि मनोनीत सदस्य सदन से पर्याप्त वोट नहीं जुटा पाता तो सदन उस मंत्री पद के लिए और दो तीन नाम सुझाने के लिए प्रधान मंत्री को कह सकता है। अब उन में से एक का निर्वाचन सदन द्वारा करना होगा।

सांसदों के कार्य

प्रधान मंत्री, मंत्रिमंडल और सांसदों के निर्वाचन के बाद हमारे समक्ष सरकार का वैसा ही ढांचा होगा जैसा कि अब होता है। इसमें बस इतना सा अंतर होगा कि अब चापलूसों, निकम्मों और भ्रष्ट लोगों के वहां पहुँचने के अवसर बहुत कम होंगे। मगर अभी भी संसद की कार्यप्रणाली को बेहतर बनाने की जरूरत है। इसमें मंत्रियों की भूमिका तो निर्धारित नीतियों को क्रियान्वित करने की होगी। मगर मुख्य नीतियाँ बनाने की जिम्मेदारी संसद के पास ही रहनी चाहिए। मंत्री इन नीतियों को लागू करवाने हेतु अधिकारी वर्ग को आदेश देने के लिए अधिकृत किये जायेंगे। उनके पास कुछ अधिकार मुख्य नीतियों की कार्यकुशलता के लिए छुटपुट नीतियाँ बनाने और लागू करने के भी हो सकते हैं। मगर मुख्य नीतियाँ बनाने का अधिकार सदन के पास ही रहना चाहिए। इस कार्य के लिए कोई भी सांसद प्रधान मंत्री को प्रस्ताव का मसौदा पेश करेगा, जो उसे विचार विमर्ष के लिए अपने मंत्रिमंडल के समक्ष प्रस्तुत करेगा। यदि मन्त्रिमंडल को प्रस्ताव लागू होने योग्य लगा तो उसे सदन के समक्ष रख कर अनुमोदन करवा लिया जायेगा, जैसा कि अभी किया जाता है। अपने प्रस्ताव के रद्द किये जाने से असंतुष्ट सांसद इस मुद्दे को प्रश्न

काल में उठा सकता है। इस तरह मंत्रियों की भूमिका तो अधिकारी वर्ग के निरीक्षक जैसी होगी, जिन से वे नीतियां लागू करवाएंगे। और प्रधान मंत्री इस मंत्रिमंडल के निरीक्षक या अध्यक्ष की भूमिका निभाएगा इसी तरह सांसदों की भूमिका प्रधान मंत्री और उस के मंत्रिमंडल की निगरानी और निरीक्षण की होगी। सांसदों के पास अति गोपनीय फाइलों को छोड़ कर किसी भी फाइल की प्राप्ति का अधिकार होगा। गोपनीय और अति गोपनीय फाइलें घोषित किये जाने की नीति भी बनी होनी चाहिए। इस प्रणाली की विशेषता होगी कि इस में सभी निर्णय लोकतान्त्रिक ढंग से लिए जा सकेंगे, जिस में किसी पार्टी का 'व्हिप' प्रयोग में नहीं आयेगा, और आज की तरह चापलूसी भरे निर्णय ठूंसे नहीं जायेंगे। इस प्रणाली में प्रधान मंत्री के पास अमरीकी राष्ट्रपति की तर्ज पर अधिकार नहीं होगी, बल्कि उसे बहुमत के निर्णय का आदर करना होगा।

कार्यकाल

निर्वाचित सांसदों की कार्यावधि कोई बड़ा मुद्दा नहीं है। वर्तमान पांच वर्ष की अवधि ठीक ही है, और यही रखी जा सकती है। मगर अवधि की समाप्ति के बाद क्या हो, यह सोचने वाली बात होगी। क्या उन्हें पुनः निर्वाचित हो सकना चाहिए? मेरे विचार में सत्ता के लोभी लोगों को सत्ता के साथ चिपकने दिए जाने के कारण ही भ्रष्टाचार का प्रारम्भ होता है। भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए सबसे पहले इसे ही रोकना होगा। इस तरह हम इन सत्ता बिन्दुओं को सेवाबिन्दुओं के प्रारूप में बदल सकते हैं। किसी के लिए भी पांच साल की राष्ट्र सेवा काफी है, जिसके बाद सेवा का अवसर किसी और योग्य व्यक्ति को मिलना चाहिए। सांसदों के लिए एक और अवसर प्रधान मंत्री पद के लिए प्रत्याशी के तौर आवेदन करने का रखा जा सकता है। यदि ठीक समझा जाये तो प्रधान मंत्री के पद के लिए सांसद के तौर पर पूर्ण अवधि सकुशल समाप्त किया जाना अनिवार्य योग्यता के रूप में भी रखा जा सकता है। इस तरह सांसदों को अपना कार्य दक्षता से करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। इसी तरह प्रधान मंत्री को उत्साहित करने के लिए इस पद की दावेदारी का एक और अवसर भी रखा जा सकता है, और दूसरी बार की उमीद्वारी के लिए उसे मूल्यांकन की क्रिया से छूट दी जा सकती है। मगर दो बार से अधिक अवसर देना उचित नहीं होगा।

प्रभावी कार्यशीलता

किसी भी संस्था के लिए अपने कार्यकलापों का संतोषजनक ढंग से निर्वाह करने के लिए उसे अनुशासन का होना लाजिमी है। और संसद भी कोई अपवाद नहीं है; बल्कि राष्ट्र की सर्वोपरि उत्तरदायी संस्था होने के नाते इसमें तो अनुशासन अपेक्षकृत और अधिक वांछित है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदन में अनुशासन और चौकसी के लिए कोई इनाम रखा जा सकता है। सब

से अधिक अनुशासित सांसदों में से प्रमुख कुछ के लिए एक और अवधि के लिए उमीद्वारी का प्रोत्साहन रखा जा सकता है। ऐसा सोचने का भी एक कारण है, जो आज की संसद की कार्यवाही देखने से समझ में आ जायेगा, जो इस समय मछली मार्किट से भी अधिक शोर शराबे वाला स्थान लगती है। वे कई कई दिनों तक संसद की कार्यवाही रोकने के लिए स्वतंत्र दिखाई पड़ते हैं। और उन्हें अपने इस रव्यये से जनता के धन की बर्बादी की रत्ती भर भी परवाह नहीं। जो लोग पांच एक सौ सदस्यों के सदन को प्रभावी ढंग से नहीं चला सकते उन्हें हम पूरे देश की बागडोर सम्हाल देते हैं। सदन के अध्यक्ष को अधिकार होना चाहिए एक समय में एक ही सदस्य को बोलने दे, और दूसरे की बारी उसे अपनी बात कहने के बाद आये। सदन की कार्यवाही में बाधा डालने की गतिविधि पर जिम्मेदार व्यक्ति को कुछ दिनों के लिए सदन से निलंबित, और कुछ बार, मान लो तीन बार, दोहराने पर निष्कासन का प्रावधान होना चाहिए। किसी मुद्दे पर बहस प्रश्नकर्ता सदस्य और संबंधित मंत्री के बीच में ही रहनी चाहिए, और अन्य सदस्यों की इस में भागीदारी अध्यक्ष की आज्ञा से ही होनी चाहिए। अध्यक्ष जब उस सदस्य को अपना प्रश्न पढ़ने की आज्ञा दे तो मंत्री को बीच में बोलने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। कहने की जरूरत नहीं कि प्रश्न पहले से ही मंत्री को दिया जा चुका होगा, जिसका उत्तर उस ने तैयार कर रखा होगा। प्रश्न की समाप्ति पर मंत्री को उत्तर प्रस्तुत करने के लिए कहा जाये, और उत्तर देते समय किसी और को बोलने नहीं दिया जाना चाहिए। मंत्री को अपना उत्तर विनिर्दिष्ट समय के भीतर समाप्त करने को कहा जाये, और उस से अधिक समय लिए जाने पर उसे टोका जाये। मंत्री के उत्तर की समाप्ति पर प्रश्नकर्ता सदस्य को अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने या और स्पष्टीकरण मांगने की आज्ञा हो, जिस समय किसी अन्य को बोलने की आज्ञा न दी जाये। उस के बाद मंत्री को सफाई देने की इजाजत दी जाये। अंत में उस सदस्य के विचार जान सकते हैं कि वह संतुष्ट है या नहीं, मगर सीमित समय में। अध्यक्ष इस विषय में अब अन्य सदस्यों के विचार भी मांग सकता है, और यदि बहुत अधिक सदस्य विचार देना चाहें तो लिखित में ले कर मंत्री को सौंपे जा सकते हैं। अध्यक्ष सदन की अगली बैठक में उन में से सबसे प्रासंगिक विचार उस सदस्य को सभा के सामने पढ़ने को बोल सकता है। ऐसा सिस्टम बना कर हम गर्व कर सकते हैं कि हम ने इस कार्य के लिए समझदार और गंभीर लोगों का चयन किया है; आज की तरह कक्षा में शरारती बच्चों जैसों का नहीं।

सेवानिवृत्ति व् वापिस बुलाना

सेवानिवृत्ति के बाद सदस्यों को आदरणीय तो समझा जाना चाहिए, मगर उनके लिए कोई पेंशन या और सेवालाभ नहीं होने चाहियें। हाँ, उन्हें पर्याप्त सुरक्षा प्रदान की जा सकती है। इसके इलावा उन्हें सत्ता में मौजूद सांसदों पर नजर रखने का कार्य भी दिया जा सकता है। इस में

सेवानिवृत्त सदस्य के पास सत्तारूढ़ किसी सांसद को वापिस बुलाने का अधिकार हो, जिसे वह उस पद के योग्य न समझता हो। मगर यह अधिकार वह अपने जीवन काल में एक या दो बार से अधिक प्रयोग न कर सकता हो। यह सीमा इस लिए आवश्यक है कि इस अधिकार का प्रयोग विवेकसंगत हो, और इस का दुरुपयोग न हो, जबकि यह अधिकार सत्तारूढ़ सदस्यों पर अंकुश लगा कर रखेगा। इस अधिकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए आगे ऐसा कर सकते हैं कि वापिस बुलाये गये सांसद को दोबारा होने वाले निर्वाचन में बिना शर्त प्रत्याशी बना दिया जाये। इस समय वापिसी की कोई कारगर प्रणाली नहीं होने की वजह से यह क्रिया इतनी आवश्यक होने के बावजूद लागू नहीं की जा सकी है। उपरोक्त प्रस्ताव इस समस्या को कुछ हद तक हल कर सकता है। प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल पर अंकुश लगाने के लिए सेवानिवृत्त होने जा रहे सांसद आज के लोकपाल जैसी कोई संस्था के लिए सदस्य नामांकित करने के अधिकारी बनाये जा सकते हैं। मगर उनका अधिकार नामांकित करने का ही हो, स्वयं सदस्य बनने का नहीं। और इस में सेवानिवृत्त होने जा रहे, या पहले ही हो चुके सांसद नहीं होने चाहियें। अंकुशों की इतनी व्यवस्था होने के बाद अब संसद के अन्य सदन, जैसे राज्य सभा, या अन्य अधिकारी, जैसे राष्ट्रपति का कोई औचित्य नहीं रह जाता। मगर यदि जरूरत समझी जाये तो ये रखे भी जा सकते हैं।

राज्यों की संरचना

अब प्रश्न उठता है की इस इस व्यवस्था में राज्य कहाँ फिट बैठते हैं। यों तो राज्यों की वर्तमान अर्ध-संघीय अर्ध-एकल प्रणाली भी बनाये रख सकते हैं, मगर यह केंद्र और राज्यों के संबंधों को एक दूसरे का पूरक बनाने के स्थान पर विरोधी अधिक सिद्ध हुए हैं, खास कर तब जब केंद्र और राज्य में सरकार अलग अलग पार्टियों की हो। अच्छे काम का श्रेय खुद पर और घटिया कारगुजारी का दोष दूसरे पे लगा दिया जाता है। भाषा पर आधारित राज्यों के वर्तमान स्वरूप के स्थान पर इनकी कार्यप्रणाली को इस तरह का बनाना चाहिए कि ये केंद्र की प्रशासनिक इकाईयों की तरह कार्य करें। मैं तो कहता हूँ वर्तमान वाला उनका नामकरण सिस्टम भी परिवर्तित कर देना चाहिए और नाम के स्थान पर राज्य नंबर एक, नंबर दो इत्यादि कर देना चाहिए। किसी राज्य में कौन कौन सा क्षेत्र आए, इस के लिए भाषा या संस्कृति की वजाए प्रशासन की सुगमता को आधार बनाना चाहिए। इसी तरह स्थानीय भाषा के प्रयोग से भी परहेज़ करना चाहिए और राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय भाषा को प्राथमिकता देनी चाहिए। स्थानीय भाषा के विकास के लिए शिक्षा बोर्ड और विश्वविद्यालय इत्यादि का क्षेत्र भाषा के आधार पर बनाया जा सकता है, जो एक पूरा राज्य, राज्य के कुछ भाग या पड़ोसी राज्यों में भी फैले हो सकते हों। लोगों को कुछ खास इलाकों को छोड़ कर, जिन में संरक्षण की विशेष आवश्यकता

हो, किसी भी राज्य में आने जाने और रहने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। ऐसी व्यवस्था छोटे एकल प्रणाली वाले देशों में तो ठीक ही है, मगर बड़े देशों में यह कुछ जटिल लग सकती है। ऐसी स्थिति में इसे केंद्र के अत्यधिक अधिकार से मुक्त करने के लिए इन राज्यों में आज की तरह ही निर्वाचित सरकारें हो सकती हैं। मगर इन के अधिकार इन के सुझाव के अनुरूप केंद्र द्वारा प्रदान किये गए धन को केंद्र द्वारा बनाई गई नीतियों के अनुरूप उपयोग करने तक ही सीमित रहना चाहिए। इनका कानून बनाने का अधिकार स्थानीय कार्यों में उपयोगी नियमों तक ही रखना चाहिए। राज्य के मुख्य मंत्री का काम प्रधान मंत्री या उस के मंत्रिमंडल के सहायक जैसा होना चाहिए, जिस के लिए उसे अपना मंत्रिमंडल बनाने का अधिकार हो।

मंत्रिमंडल की जांच पड़ताल

प्रधान मंत्री (राज्यों के प्रकरण में मुख्य मंत्री) और उसके मंत्रिमंडल पर नियंत्रण रखने/ जाँच पड़ताल करने का अधिकार भी और उत्तरदायत्व भी सांसदों/विधायकों का होना चाहिए। उनसे सदन द्वारा पास प्रस्तावों को क्रियान्वित करवाने के लिए उन पर नज़र राखी जानी चाहिए और किसी भूलचूक या अभाव के कारणों का पता लगाना चाहिए। यदि अभाव एक सीमा से ऊपर हो तो संबंधित मंत्री या प्रधान मंत्री को भी हटाने का प्रस्ताव रखा जा सकता है। मगर बर्खास्तगी के लिए वांछित वोटों का प्रतिशत केवल 50% न हो कर अधिक रखना चाहिए, मसलन दो तिहाई या तीन चौथाई। यह प्रस्ताव केवल सिफारिश के रूप में ही हो, जिसे क्रियान्वित करने का अधिकार पूर्व-विधायकों द्वारा बनाई गई समिति के पास हो। इस निर्णय को विरुद्ध मनोनीत अदालत में चुनौती दी जा सकती हो।

प्रभावशाली प्रशासन एवं न्यापालिका

भ्रष्टाचार में निरंतर वृद्धि के लिए एक कारण हमारे न्याय प्रबंध की अयोग्यता भी है। कानून की एक धारा है कि रिश्वत लेना और देना दोनों बराबर के अपराध हैं। यह जिस प्रयोजन के लिए बनाई गयी थी उस में बुरी तरह से असफल है। अब समय आ गया है कि केवल रिश्वत लेना ही अपराध घोषित किया जाये। रिश्वत देने वाला अपनी खुशी से रिश्वत नहीं देता, बल्कि ऐसा करने के लिए मजबूर होता है। और जो व्यक्ति जनता के धन में से मोटी राशि वेतन के रूप में ले रहा हो उसे उच्च नैतिकता का स्वामी होना ही चाहिए, जो रिश्वत देने वालों द्वारा रीझाया न जा सके। जनसाधारण के पास अपना काम करवाने के बदले रिश्वत भेंट करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, जिस की शिकायत वह बाद में भी कर सकते हों। ऐसी शिकायतें दर्ज करवाने के लिए अधिकारी आसानी से उपलब्ध रहना चाहिए। एक विकल्प के तौर पर किसी अधिकारी द्वारा किसी का काम करने में अभूतपूर्व विलम्ब भी रिश्वत माँगना ही समझा जाना चाहिए।

जन कल्याण कार्यालयों में प्रदान की जाने वाली मुख्य सेवाओं के लिए वांछित सभी आवश्यक कागजात की सूची प्रदर्शित की गई हो। सूची से अलग सेवाओं के लिए कार्यालय में एक अधिकारी होना चाहिए जिसकी ज़िम्मेदारी लोगों का कागज़ी कार्यवाई में पथ प्रदर्शन करना हो, जैसा कि कुछ अच्छी निजी संस्थाओं में होता है। किस काम के लिए कौन से कागज़ तैयार करने हैं, यह जानकारी लिखित में दी जाये तो अधिक अच्छा होगा। जब उस अधिकारी के दिशानिर्देशों के अनुसार कागज़ तैयार कर संबंधित कर्मचारी को दिए जाएँ तो नियमित समय सीमा के अंदर उस काम को पूरा करने की उसकी ज़िम्मेदारी हो। यदि फिर भी काम के लिए कागज़ पूरे नहीं हों तो अतिरिक्त वांछित कागज़ात एक ही बार में लिखित रूप में मांगे जाने चाहियें। उसके बाद और कागज़ मांगे जाने पर अंकुश होना चाहिए। काम को निपटाने में देरी के लिए ज़िम्मेदार अधिकारी को जुर्माना और पीड़ित को हर्जाना दिया जाना चाहिये, जो विलम्ब के कारण हुए घाटे से अधिक हो। उच्च अधिकारियों से संरक्षण प्राप्त कर्मचारियों के विरुद्ध कार्यवाई के लिए जनसाधारण के पास इस मंतव के लिए स्थापित विशेष अदालतों में जाने का प्रावधान होना चाहिए। आज के पुलिस जांच के सिस्टम को ऐसा बनाया जाये जिस में यदि किसी व्यक्ति के पास पुख्ता सबूत हों तो वह स्वयं ही, बिना पुलिस जाँच के, मुकद्दमा कर सकने का अधिकारी हो। पुलिस को सौंपी गई जांच में शिकायतकर्ता के पास जांच का ब्यौरा जानने का अधिकार होना चाहिए और उसे बताना अनिवार्य हो कि पुलिस किसी निष्कर्ष पर किस आधार पर पहुंची है। बेतुकी सी टिप्पणी 'आरोपी के विरुद्ध कुछ ठोस नहीं पाया गया' पर्याप्त नहीं हो।

जन संपर्क से संबंधित प्रभावशाली लोगों के लिए अपने बचाव के मुख्य साधनों में से एक है हमारी न्याय प्रणाली की जटिलता। आज के सरकारी सिस्टम में कानून और अधिनियम इतने भारी भरकम और पेचीदा हैं कि कई मामलों में तो कानून के विशेषज्ञों को भी समझ नहीं आता कि कोई प्रक्रिया वैध है या अवैध। अब कानून तो यह भी है कि कानून का पता न होना किसी अपराध के लिए दंड से क्षमा का कारण नहीं हो सकता। और कुछ हद तक यह ठीक भी है, नहीं तो ऐसे ही पता न होने का बहाना लगा दिया जायेगा। मगर क्या किसी को ऐसे अपराध के लिए दण्डित करना न्यायसंगत होगा यदि हमें पता हो कि उसे मालूम ही नहीं था कि जो उस ने किया वह अपराध था? अभी भी चाहे जज तो पहली बार किसी अपराध के लिए कम सज़ा देना न्यायसंगत मान ले, मगर लागू करने वाले अधिकारी इस अज्ञान का लाभ ऐसे अभागे अपराधियों से पैसा ऐंठने के लिए उठाते हैं। मेरे विचार से कानून को दो भागों में बांट देना चाहिए। पहले भाग में वह कानून हो जिस का ज्ञान होना हरेक नागरिक के लिए अनिवार्य हो। इस भाग वाले कानून की अनभिज्ञता का लाभ किसी भी दोषी को नहीं मिलना चाहिए। मगर शेष बचे कानून को सूक्ष्म भाग में रखा जा सकता है, जिस की अनभिज्ञता का लाभ पहली बार

दिया जा सकता है। मगर यदि इस बारे में अपराधी को पहले से ही चेतावनी दी गयी हो तो ऐसा लाभ नहीं मिलेगा। उदाहरणार्थ उत्पाद शुल्क के मामले में एक वर्ग का उत्पाद अधिक शुल्क वाले शीर्ष में लिया जाना चाहिए था, मगर अनजाने में वह दूसरे शीर्ष में ले लिया गया, जिसमें शुल्क कम था। विभाग को इस भूल का पता एक अरसे के बाद लगता है, मगर निर्माता को शुल्क का अंतर और जुरमाना जमा करवाने का आदेश दे दिया जाता है। आदेश देते समय इस बात को कोई महत्व नहीं दिया जाता कि वह निरंतर रिटर्न फाईल करता रहा है, और वह अपने ग्राहकों को भी उसी दर से शुल्क जोड़ता रहा है। विभाग इतनी देर तक इस गलती को नजर अंदाज़ करने की अपनी कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेता, जबकि रजिस्टर करते समय मार्गदर्शन करना विभाग की ज़िम्मेदारी होनी चाहिए। इस स्थिति का लाभ भ्रष्ट अधिकारी कुछ ले दे कर दर या जुर्माना घटा कर खूब उठाते हैं, और इस तरह उत्पादनकर्ता और सरकार, दोनों को चूना लगाते हैं। विभाग के लिए जनसाधारण का सही शुल्क देने के लिए पथप्रदर्शन करना अनिवार्य होना चाहिए। और यदि कम शुल्क लगाने से उस ने अतिरिक्त लाभ न कमाया हो तो वसूली का भी कोई औचित्य नहीं बनता। हाँ, प्रत्यक्ष कर के संदर्भ में ऐसी गलती के लिए वसूली की जा सकती है, मगर जुर्माना नहीं लगाना चाहिए। मगर यदि ऐसे गलती दोबारा हो तो जुर्माना लगाया जाना चाहिए।

ध्यान देने योग्य अन्य क्षेत्र है न्यायालयों में निर्णय के लिए परम्परागत गवाही पर निर्भरता का चलन। न्यायालय प्रायः व्यक्तिगत गवाहों के बयानों पर निर्भर रहते हैं। सभी जानते हैं कि न्यायालयों में लोग जो बयान देते हैं वह सच्चाई पर आधारित न हो कर बयानकर्ता के, या उसके प्रियजनों के, हितों पर आधारित होते हैं। कई बार तो ऐसे बयान किसी डर, लालच या प्रभाव अधीन भी दिए जाते हैं। कितने ही उदाहरण होंगे जब उत्पीड़न के द्वारा अपराध स्वीकार करवाया जाता है और उसे न्यायालय में भी स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। अतः प्रत्यक्षदर्शियों पर निर्भरता के स्थान पर अन्य ठोस प्रमाणों पर अधिक बल देना होगा, और प्रत्यक्षदर्शियों की गवाही तभी विश्वसनीय मानी जानी चाहिए जब परिस्थितिक विवरण उसकी पुष्टि करे। उच्च न्यायालय प्रायः किसी मामले की हुई जाँच, या जाँच में जाने या अनजाने में रह गयी कमियों की तह तक नहीं जाते और यह परवाह नहीं की जाती कि जाँच में कहाँ कहाँ जान बूझ कर कोताही हुई है। पुलिस की जाँच में, और किसी कर्मचारी की विभागीय जाँच में इतना ही काफी मान लिया जाता है कि जाँच हुई थी। अब जाँच अधिकारी इतने बच्चे तो होते नहीं जो इतना भी न समझ सकें कि उनके द्वारा की गई जाँच निष्पक्ष लगनी चाहिए। और कई बार तो न्यायालयों के जजों का व्यवहार भी ऐसा होता है कि तथ्यों को नकार कर और विवेक को तिलांजली दे कर बस अपनी सनक और कल्पना के आधार पर ही निर्णय दे देते हैं। ऐसा जान बूझ कर भी किया जाता है और कभी कभी समय के कमी के कारण जल्दबाजी में भी

हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि एक पक्ष को लाभ पहुँचाने का प्रयास किया गया प्रमाणित हो जाये, या किसी पक्ष की सशक्त दलीलों को जान बूझ कर अनदेखा किया गया हो, या निर्णय देने में लापरवाही बरती गयी हो तो सम्बंधित जाँच अधिकारी/जज पर भी अभियोग लगाना चाहिए, जिसका दंड भी उसके द्वारा की गई सोची समझी कोताही की मात्रा के आधार पर मिलना चाहिए। कहने की जरूरत नहीं कि इस अपराध के लिए भी कानून बनाना चाहिए। यह सच्य है कि किसी जज के निर्णय में निर्भीकता, निष्पक्षता और निष्कपटता रखने के लिए उस पर उस के निर्णय पर बाद में प्रश्नचिन्ह नहीं लगने चाहियें। मगर इसी सोच के तहत इन को प्रदान की गई प्रतिरक्षा के कारण कुछ भ्रष्ट या लापरवाह लोगों का भी आगमन हो गया है। ऐसे लोगों को रोकने के लिए उनकी निर्णय क्षमता को परखना और किसी जवाबदेही के साथ जोड़ना अतिआवश्यक है। जिन निर्णयों में केवल धारणा के आभाव या दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण कोताही हुई हो उस पर तो कड़ी कार्रवाई का औचित्य नहीं है, मगर जिन मामलों में भयंकर या जानबूझ कर लापरवाही की गई हो उन में तो अनुकरणीय दंड का प्रावधान होना ही चाहिए। जब एक डॉक्टर पर मरीज़ के साथ लापरवाही बरतने पर अभियोग चलाया जा सकता है तो एक जज, जिसका दायत्वहीन व्यवहार किसी के जीवन के साथ डॉक्टर से कहीं अधिक खिलवाड़ कर सकता है, उसे क्यों छोड़ दिया जाये ?

एक अन्य महत्वपूर्ण मुद्दा है पूर्व-निर्णय का अंधाधुंध अनुसरण से परहेज़ करना। पूर्व निर्णय बेशक किसी केस का फैसला करने के लिए अच्छा मार्गदर्शन कर सकता है। मगर पूर्व निर्णय से सीध लेने के लिए भी बुद्धि का प्रयोग करना अति आवश्यक है। नहीं तो लकीर का फकीर जैसी हालत हो जाएगी। एक उदाहरण है संजय दत्त को भी वही सज़ा सुनाया जाना जो एक अन्य अभियुक्त को सुनाई गई थी। मैं इस केस में अपना कोई मत नहीं रख रहा हूँ, क्योंकि मैंने यह केस का बारीकी से अध्ययन नहीं किया है। मगर यदि सच्चाई वही है जो मीडिया में बताई गई है तो उसके अपराध को उस अपराधी के बराबर मानना संजय दत्त के साथ सरासर अन्याय है। उसने अवैध हथियार तो रखा, मगर ऐसी परिस्थिति में जब उसके घर के आसपास विधि और व्यवस्था का नियंत्रण इसे लागू करने वाले अधिकारियों के हाथ से भी निकल चूका था; एक ऐसी परिस्थिति जब समृद्ध लोग सामान्य लोगों की तुलना में अधिक खतरनाक स्थिति में होते हैं; संभवतः आत्मरक्षा के लिए, और वह भी ऐसे समय में जब जिन लोगों से सुरक्षा की आकांक्षा होती है वे तो सामान्य लोगों की सुरक्षा के भी स्मर्थ नहीं थे; जबकि दूसरे अपराधी ने वही अपराध सामान्य माहौल में किया था, जिसका तात्पर्य है कि वह अपराध किसी और ही इरादे से किया गया होगा। चलिए एक और उदाहरण लेते हैं। आत्महत्या के लिए उकसाहट के केस में सर्वोच्च न्यायलय ने बहुत ही बुद्धिमानी से निर्णय दिया है कि केवल उत्पीडन के कारण हुई आत्महत्या को आत्महत्या के लिए उकसाहट नहीं माना जा सकता। और यह न्यायोचित भी है।

यदि किसी ऐसे व्यक्ति ने आप से पैसा उधार लिया है, जिसने और लोगों से भी बहुत सा पैसा उठा रखा है, मगर किसी अप्रत्याशित आर्थिक क्षति के कारण कर्ज़ चुकाने में असमर्थ हो गया है, और स्वाभिमान बचाने के लिए आत्महत्या कर लेता है, तो क्या आप के द्वारा अपने खून पसीने की मेहनत से कमाए हुए पैसे को वापिस माँगना उस आत्महत्या की उकसाहट होगा ? न्यायलय ने निर्णय दिया है कि उकसाहट साबित करने के लिए उकसाने वाले के विरुद्ध कुछ ऐसा होना चाहिए जिस से सिद्ध हो सके कि उस ने चाहा था कि मरने वाला आत्महत्या कर ले, जैसे उसे आत्महत्या कर लेने को कहा हो । अब यदि इस नियम का बिना विचार किये अन्धानुसर्ण करेंगे तो विचित्र परिणाम सामने आएंगे । एक बलात्कारी ने पीड़ित को न तो आत्महत्या करने को कहा हो, और न ही चाहा हो कि वह आत्महत्या कर ले, मगर उस ने समाजिक कलंक के डर से आत्महत्या कर ली हो । या उस ने अपने को उस वहिशी की दरिंदगी से बचाने के लिए आत्महत्या कर ली हो । तो क्या इन दोनों मामलों में उकसाहट नहीं होगी ? एक केस ऐसा भी हुआ था जब आठवीं कक्षा का एक छात्र, जो अपने माँ बाप का इकलौता पुत्र था, विडियो गेम के लिए जिद करने लगा । मगर उस समय उस की परीक्षा समीप होने के कारण उस के माँ बाप चाहते थे कि वह अपनी यह मांग परीक्षा समाप्ति तक स्थगित कर दे । मगर वह बच्चा अड़ गया और विडियो गेम न मिलने पर आत्महत्या की धमकियाँ देने लगा । पहले भी ऐसी धमकियों से वह अपनी मांगें मनवा लिया करता था । वे रोज़ रोज़ की धमकियों से तंग आ चुके थे और उन्हें लगता था कि ये धमकियाँ अपनी मांग मनवाने के लिए गीदड़ भभकियाँ ही हैं । वे लडके की रोज़ रोज़ की ब्लैक मेलिंग बंद करना चाहते थे । उसकी ऐसी बचकानी हरकतें रोकने के लिए उन्होंने बोल दिया कि जा जो करना कर ले, मगर विडियो गेम परीक्षा के बाद ही मिलेगी । मगर बेचारे क्या जानते थे कि बच्चा सच में ही आत्महत्या कर लेगा । तो क्या यह आत्महत्या की उकसाहट माना जायेगा ? क्या उकसाहट साबित करने वाले सभी प्रयोजन इस केस में मौजूद नहीं हैं ?

खण्डित कल्याण

सरकार का लोक कल्याण के नाम पर हरेक क्षेत्र में हस्तक्षेप भी भ्रष्टाचार के फैलाव का एक महत्वपूर्ण कारण है । सरकार को कल्याणकारी तो होना ही चाहिए, मगर उस का काम सर्वजन कल्याण के लिए आवश्यक बातावरण तैयार करने तक सीमित रहना चाहिए । भारत में तो खंडित कल्याण भी भ्रष्टाचार का एक बड़ा कारण है । सर्वजन कल्याण का अर्थ यह कदापि नहीं है कि सभी नागरिकों को विकास में एक समान हिस्सा मिलना चाहिए, या एक समान योगदान देना होगा । हम कम आय वालों को समृद्ध लोगों के बराबर योगदान डालने के लिए नहीं कह सकते । आर्थिक असमानता तो सरकार के अच्छे से अच्छे समाजवादी तंत्र में भी होगी । अतः

नीतियाँ बनाते समय लोगों की आर्थिक हालत का ध्यान तो रखना ही होगा । मगर गडबड तब होती है जब आर्थिक मुद्दों को सामाजिक मुद्दों के साथ जोड़ दिया जाता है, या हरेक नागरिक को एक इकाई की तरह समझने के स्थान पर उनके वर्गों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है । संसार की सभी सभ्यताओं में वर्ग विशेष तो होते ही हैं, मगर भारत में इन का अधिक बोलबाला है । मगर ऐसा वर्गीकरण समाज तक ही सीमित रहना चाहिए और सरकार की नीतियों में नहीं झलकना चाहिए । सरकार को सभी नागरिकों को एक समान समझना चाहिए और सभी के लिए समान अवसर होने चाहियें । समाज के निर्बल वर्ग के लिए विशेष सुविधाएँ देना बुरा नहीं है, मगर ये किसी ग्रुप, समुदाय या जाति विशेष के लिए न हो कर व्यक्तिगत तौर पर निर्बल लोगों के लिए होनी चाहियें; और ये सुविधाएँ व्यक्तिविशेष को प्रतिस्पर्धा के योग्य बनाने का प्रयास हों, न कि सरकारी नौकरी या शैक्षिक संस्थानों में आरक्षण । कुछ आधारभूत मसलों को छोड़ कर बाकी सब में जाति या धर्म के आधार पर नीतियाँ बना कर हम समाज में पहले से ही मौजूद दरारों को और चौड़ा कर देंगे । टैक्स आदि के लिए आर्थिक आधार पर वर्गीकरण करना तो न्यायोचित भी है और सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक भी, मगर इस वर्गीकरण को जाति, वर्ण, रंग, धर्म या क्षेत्र आधारित वर्गीकरण के तुल्य नहीं माना जा सकता । आर्थिक रूप से कमज़ोर लोगों के लिए कुछ सुविधाएँ दी जा सकती हैं, मगर आरक्षण नहीं होना चाहिए, न नौकरियों में न शिक्षा में । आरक्षण की नीति राष्ट्र को कुछ देने की वजाए छीनने के रुझान को बढ़ावा देती है । निर्धन लोगों को उनके स्वःउत्थान के प्रयासों के अनुरूप प्रोत्साहन या छात्रवृत्ति दी जा सकती है, मगर आरक्षण नहीं देना चाहिए, विशेष कर नौकरियों में । जाति आधारित मौजूदा आरक्षण नीति हमारी राजनैतिक श्रेणी द्वारा अपराध से कम नहीं है, न केवल कथित स्वर्ण जाति के विरुद्ध, बल्कि उन के विरुद्ध भी जिनके लाभ के लिए इसे लागू किया गया है । एक आरक्षित श्रेणी के उच्च गजेटेड अधिकारी के बेटे को निःशुल्क शिक्षा, फिर अच्छे शिक्षा संस्थान में प्रवेश के लिए आरक्षण, और फिर नौकरी में आरक्षण का लाभ देना, मगर कथित स्वर्ण जाति के एक निर्धन के बेटे को इन सुविधाओं से वंचित रखना कहाँ तक न्यायोचित है ? उसके पास कठिन परिश्रम से स्वःउत्थान के लिए बनाये गए क्षीण से अवसर भी एक आरक्षित श्रेणी के समृद्ध व्यक्ति के बेटे द्वारा हथिया लिए जाते हैं । कुछ जातियों को पिछड़ी जातियाँ और कुछ को अनुसूचित घोषित कर हम ने वास्तव में उन्हें पक्के तौर पर पछड़ी हुई जातियाँ बना दिया है । हमें उनका यह पछड़ापन उनके मन में से निकलना होगा, जिसके लिए उन्हें प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार करना होगा, न कि सरकारी दान की ओर दृष्टि गड़ाए रहें । और सामाजिक पछड़ापन केवल आर्थिक उत्थान से समाप्त नहीं किया जा सकता । फिर सरकार भी तो जनसँख्या के एक छोटे से भाग को ही नौकरियाँ दे सकती है । इन कुछ लोगों के उत्थान से पूरे वर्ग का उत्थान तो संभव नहीं है । इनके सामाजिक उत्थान के लिए हमें इनकी मानसिकता को बदलना होगा । कथित उच्च जातियाँ इस लिए उच्च हैं क्योंकि वे स्वयं को दूसरों से उच्च

समझती हैं। मगर वे अन्य उच्च जातियों को भी अपने से नीचा ही समझती हैं। उदाहरण है पंजाब की जट जाति, जो अपना गुणगान उस क्षेत्र के लगभग हर गाने में करती है। मगर अन्य उच्च जातियों के लिए यह जाति मूर्खता भरे व्यवहार की द्योतक है। मेरा एक सहकर्मी, जिस का संबंध बहुत ही नीची समझी जाने वाली जाति से था, अपनी जाति बड़ी शान से बताता था, और गर्व के साथ कहता था कि वह एक माननीय श्रमिक वर्ग से था, न कि किसी कामचोर परजीवी श्रेणी से। उस ने अपने बच्चों के लिए आरक्षण का लाभ लेने का प्रयास तक नहीं किया, जो वह आराम से ले सकता था। सरकार का कर्तव्य है कि वह समरूप समाज के सृजन का प्रयास करे। यदि नहीं कर सकती तो कम से कम समाज को इरादतन बांटने से तो परहेज़ करे। हम अपने सामाजिक ढांचे से जातियों को इतनी आसानी से पृथक नहीं कर सकते। मगर इस समय इतना तो कर सकते हैं कि सभी जातियां अपने को दूसरों के बराबर समझें। यह तब तक संभव नहीं है जब तक सरकार ही कुछ को हीन समझती रहे। अतः मौजूदा मानसिकता को बदलने की आवश्यकता है, विशेष कर जो हम सरकारी नौकरियों को पुरस्कार के तौर पर लिए जा रहे हैं। सरकारी नियुक्तियों को जन साधारण की सेवा के तौर पर देखा जाना चाहिए, न कि किसी पारितोषिक सुविधा के तौर पर। हमारी प्राथमिकता आवश्यकता वाले पदों पर सुयोग्य व्यक्तियों नियुक्त करने की होनी चाहिए। सरकारी नौकरियां तभी जनसेवा बनेंगी जब हम इन्हें दान में बांटना बंद करेंगे। सरकार के पास दान के लिए इस के इलावा दुसरे बहुत से क्षेत्रों में भी काफी गुंजायश है। कितना निंदनीय है कि हम कथित पछडे वर्गों के स्वस्थ और संपन्न लोगों के लिए तो नौकरियां आरक्षित रखे हुए हैं (आजकल इन के लिए दलित शब्द प्रयोग किया जाता है, चाहे वास्तविक दलितों को ये नौकरियां कम ही मिलती हैं, और ये संपन्न 'दलितों' को ही प्राप्त होती हैं), जबकि विकलांग लोगों का एक विशाल समुदाय, जो सचमुच के दलित हैं, पेट भरने से भी लाचार, भीख मांग कर गुजर बसर करने को विवश हैं। ये लोग हैं जिन के लिए सुविधाएँ होनी चाहियें; सरकारी नौकरियों में आरक्षण दे कर नहीं, बल्कि उनके लिए आजीवका का प्रबंध कर के। और जब तक किसी के लिए प्रबन्ध न हो सके तब तक इन विकलांगों के लिए अनुदान की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसकी राशि सरकारी कर्मचारियों की न्यूनतम पेंशन से कम नहीं होनी चाहिए।

जन कल्याण योजनायें

जन कल्याण योजनाओं तहत जरूरतमन्द लोगों के लिए सुविधाएँ उपलब्ध करवाना एक अन्य संदेहस्पद विषय है। इन के पीछे मंशा तो साफ़ होगी, मगर यह प्रणाली अपने आप में दोषपूर्ण है और भ्रष्टाचार का स्रोत है। यहाँ तक कि प्रधान मंत्री श्री राजीव गाँधी तक ने माना था कि इन योजनाओं का मात्र 15% ही वास्तविक लाभार्थियों तक पहुँचता है और शेष 85% वितरण

प्रणाली में ही खुर्द बुर्द हो जाता है। मुफ्त की बंदरबांट और अनुदान सभी राजनैतिक दलों के मानक बन गये हैं। और सस्ते खाद्य और सस्ती सेवाओं के नाम पर जो परोसा जाता है वह वास्तव में घटिया माल ही होता है। जिन पे इन सब के वितरण का उत्तरदायत्व होता है वे आम लोगों के लिए इन की प्राप्ति इतनी कष्टदायक बना देते हैं कि पूछिए मत। जन वितरण प्रणाली के लाभ जन साधारण तक कम और अधिकारीयों व डिपो होल्डरों के पास अधिक पहुँचते हैं। हम इस प्रणाली के छिद्र बंद करने की बातें तो करते हैं, मगर जानते हैं कि इन्हें बंद करने का प्रयास भी नहीं किया जायेगा। जिस मुद्दे पर हमें विचार करनी चाहिए वह यह वास्तविकता है कि यदि रिसाव रोक भी दिया जाये तो भी यह प्रणाली राष्ट्र पे बोझा मात्र ही है। यदि हम इस योजना पर खर्च होने वाली मदें, जैसे कि सरकारी अधिकारीयों और स्टाफ का भारी वेतन, क्रय, भंडारण और वितरण की लागत, और लोगों के इन सेवाएं की प्राप्ति के लिए व्यर्थ होने वाले समय की लागत (इस घटक की तो सरकार को बिलकुल ही परवाह नहीं है) इतियादी का मिलान इन के लाभ के साथ किया जाये तो ये योजनायें व्यवहार्य नहीं पाई जाएँगी। हम छलनी की तरह रिसावदार वितरण प्रणाली के स्थान पर सहायता के सुपात्र लोगों को अनुदान की राशि सीधे क्यों नहीं दे देते? हम गरीबी रेखा के नीचे के लोगों का रिकॉर्ड रखते हैं और उनके लिए पीले कार्ड बनाते हैं। हम सभी नागरिकों के लिए अभिन्न पहचान पत्र (आधार कार्ड) की योजना बनाये हुए हैं। हमें मालूम है कि हम अनुदान की कितनी राशि देने की योजना बना रहे हैं। तो यह राशि इस छिद्रों से भरी प्रणाली द्वारा देने की वजाएँ सीधे ही क्यों नहीं दे देते? थोडा बहुत रिसाव तो इस प्रणाली में भी होगा, मगर वर्तमान प्रणाली से यह अवश्य अच्छी होगी। इस को और पारदर्शी बनाने के लिए इस राशि को लाभार्थी के बैंक खाते में जमा करवाया जा सकता है। यदि आप कहें कि गरीबों का तो किसी बैंक में खाता ही नहीं होता, तो जब हम उनके लिए इतनी राशि अनुदान पर खर्च कर सकते हैं तो उनके लिए शून्य बैलेंस वाला खाता क्यों नहीं खुलवा सकते?

मुफ्तखोरी वाले उपहार वोटर्स को रिझाने के लिए गाजर की तरह हैं। मगर यदि इनका ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया जाये तो हम पाएँगे कि इन से उन लोगों को भी लाभ की वजाएँ हानि ही होती है जिन को ये उपहार दिए जाते हैं, या यों कहिये कि जिनको राजनीतिज्ञों द्वारा यह रिश्वत दी जाती है। उदाहरण के लिए, कुछ राज्यों में किसानों को सिंचाई के लिए निःशुल्क बिजली की सुविधा दी जाती है। मगर उन को मिलते हैं लम्बे कट या अनंत रुकावटों वाली आपूर्ति। जब सिंचाई की अत्यधिक आवश्यकता होती है तो उन्हें डीजल जलाना पड़ता है, जिस से इस मुफ्तखोरी का लाभ शून्य हो जाता है। और जब जरूरत नहीं भी होती तो भी मुफ्त की बिजली होने की वजह से ट्यूबवेल चलते रहते हैं, जिस से अमूल्य भू जल-स्रोतों की बर्बादी होती है। अनुदानित मिटटी का तेल ब्लैक मार्किट में पहुँच जाता है, या फिर पेट्रोल में मिलावट के

काम आता है। खाद उर्वरकों पर उत्पादकों को लागत के आधार पर प्राप्य अनुदान से उनकी उत्पादकता बुरी तरह से प्रभावित होती है। क्या इस की वजाए ऐसा करना अच्छा नहीं होगा कि उत्पादकों को प्रतिस्पर्धात्मिक दरों पर बेचने दिया जाये और किसानों को उनके पास भूमि के अनुसार अनुदान दे दिया जाये। इसके विरुद्ध तर्क दिया जा सकता है कि जिन किसानों ने भूमि पटे पर ले रखी होगी उन्हें तो अनुदान का लाभ नहीं मिलेगा। मगर ध्यान दें तो ऐसी स्थिति में पटे की दरें भी तो कम हो जाएँगी।

किसी वर्गविशेष के लाभार्थ बनाये गए कई कानून लम्बी अवधि में उस वर्ग के विरुद्ध ही भुगत जाते हैं। किरायदारों के हित में बनाया गया कानून वास्तव में उन के विरुद्ध ही जाता है, क्योंकि मकान मालिक कब्जे के डर से या तो मकान या दुकान किराये पर देते ही नहीं, या फिर बहुत महंगी दरों पर देते हैं। वैसे भी, किरायदार का उस सम्पत्ति पर अधिकार जताना कहाँ तक न्यायोचित है जिसका मालिक कोई और है? व्यापारिक सम्पत्ति के किरायदारों के पक्ष में दलील दी जाती है कि उन्होंने उस परिसर की साख बढ़ाई होती है, अतः उस साख पर उनका अधिकार होना चाहिए। यह दलील भी न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जो धन उन्होंने उस परिसर को खरीदने और उस पर भवन निर्माण पर लगाना था वह धंधे में लगा कर अतिरिक्त लाभ भी तो उन्होंने ही कमाया है। ऐसे फसाद की जड़ कानूनों की वजह से न्यायालयों में मुकद्दमेबाज़ी में बेतहाशा वृद्धि हुई है, जिस से बचा जा सकता था। मगर हम कानून बनाते समय सभी पहलुओं पर विचार नहीं करते। अभी अभी एक कानून बनाया जा रहा है जिस के तहत लेखकों, गीतकारों और संगीतकारों के लिए राजस्व का प्रावधान किया जा रहा है, जिस का तर्क है कि उन्होंने भी तो गीत की रचना में योगदान दिया है। मगर क्या उन्होंने इस का तय किया गया पारिश्रमिक नहीं लिया है? क्या उन्हें नहीं मालूम था कि उनके इस काम का लाभ निर्माताओं को लम्बी अवधि तक मिलता रहेगा? क्या उन्होंने अपनी रचना बेचते समय रोयल्टी के लिए शर्त रखी थी, या इस के न माने जाने पर रचना बेचने से इन्कार किया था? फिल्म निर्माण में बहुत से लोगों का योगदान होता है, जैसे कि निर्देशक, कला निर्देशक, एडिटर, ध्वनि इंजिनियर, कैमरामैन और बहुत से अन्य तकनीशियन। उपरोक्त दलील के अनुसार क्या इन सभी को रॉयल्टी नहीं मिलनी चाहिए? क्या अनुबंध में कोई ऐसा अनुच्छेद भी रखा गया था कि यदि निर्माता को लाभ की वजाए नुकसान होता है तो उस नुकसान के कुछ भाग की भरपाई भी रोयल्टी के दावेदारों द्वारा की जाएगी? यदि नहीं तो फिल्म के सफल होने पर रॉयल्टी की दावेदारी कहाँ तक उचित है? जिनके लिए यह सुविधा का प्रावधान किया गया है उन्हें अपने काम की सफलता का पारितोषिक लोकप्रीयता के रूप में पहले ही मिल चुका होता है, जिस का भुगतान वे भावी रचनाओं को बेचते समय करवा लेते हैं, क्योंकि अब वे अपनी रचना का अधिक मूल्य वसूल कर सकते हैं, और उन में रोयल्टी का अनुच्छेद भी रखवा सकते हैं। उनके लिए ऐसा

कानून बना कर हम उनके हित सुरक्षित करने का दिखावा तो कर सकते हैं, मगर करते नुकसान ही हैं, खास कर नए लेखकों का। यदि रोयल्टी देनी ही है तो नये लेखक का जोखिम क्यों लिया जाये ?

विवेकपूर्ण विधान रचना

कानून बनाते समय हमारा ध्यान उसके स्वरूप पर तो होता है, मगर उसके लागू करने के प्रभावों के प्रति हम उदासीन हो जाते हैं। पशु सुरक्षा के लिए बनाया गया कानून और बाल श्रम के विरुद्ध बनाया गया कानून इस की उदाहरण हैं। वैसे तो यह अच्छी बात है कि इस कानून द्वारा छोटे बच्चों को कठिन परिश्रम से बचा कर रखा गया है। मगर बालश्रम की अनुपस्थिति में अनाथ, निराश्रित और असहाय बच्चों का क्या करना है, इस के बारे में कुछ पक्की व्यवस्था नहीं की गई है। पशुओं के विरुद्ध क्रूरता रोकने के लिए जो कानून बनाया गया है उस में हम ने पशुओं को मरना अपराध माना है, मगर लोगों को इस से होने वाली असुविधा का समाधान नहीं किया गया है। मेरे पड़ोस में कुत्ते के काटने के अनेकों मामले हुए हैं, जिन में मेरा अपना और मेरे माताजी का केस भी शामिल है। कितनी ही दुर्घटनाएं दुपहिया वाहनों की आवारा कुत्तों और सांडों के साथ होने वाली टक्कर के कारण होती हैं। हिमाचल प्रदेश में बंदरों द्वारा गरीब किसानों की फसलें उजाड़ दी जाती हैं। जंगली जानवरों के मनुष्यों पर हमले भी होते रहते हैं। मगर कोई इन सुरक्षित प्राणियों से अपनी सुरक्षा के लिए कुछ नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि एक ही प्राणी ऐसा है जिसे सुरक्षा नहीं दी गई है, और वह है मनुष्य। जहाँ तक पशुओं को बिना विचारे ही मार डालने का प्रश्न है वहाँ तक तो यह कानून बढ़िया है। मगर इस के साथ लोगों को पशुओं द्वारा पैदा होने वाले उपद्रवों से बचाव का प्रावधान भी होना चाहिए था। विधान लागू करवाने वालों को इस तरह के विनाश से होने वाली हानि का उत्तरदाई बनाना चाहिए। इस के लिए एक क्षेत्र घोषित होना चाहिए जिस में आवारा पशुओं को रखने की ज़िम्मेदारी इन कानून के रखवालों की होनी चाहिए, और उस से बाहर पाए जाने वाले पशुओं से बचाव का अधिकार हर नागरिक का होना चाहिए, चाहे उस के लिए उसे जानवर को मारना ही क्यों न पड़े। और इस का हर्जाना संबंधित अधिकारीओं से वसूला जाना चाहिए, न की अपना बचाव करने वाले नागरिक से। कुछ धार्मिक लोग पशुओं को मारने का विरोध इस दलील से करते हैं कि हमारे पास किसी का जीवन हथियाने का कोई अधिकार नहीं है। फिर तो हमें चूहों, मच्छर मक्खी और फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़े मकौड़ों और स्वास्थ्य खराब करने वाले बैक्टीरिया को मारने का भी अधिकार नहीं है। अच्छा, उन्हें तो हम इस लिए मारते हैं क्योंकि वे हमें नुकसान पहुंचाते हैं। तो हमें हमारी फसलों को नुकसान पहुँचाने वाले, या जिंदगी के लिए खतरा बने पशुओं को मारने की स्वतंत्रता क्यों नहीं है ?

कानून बनाते समय हम समझते हैं कि जनता तो बुद्ध ही है, जिस का भला देखना या सुरक्षित रखना हमारे जैसे बुद्धिजीवीओं का ही काम है। हम ने दुपहिया वाहनों के लिए हेलमेट और कार चालकों के लिए सीट बेल्ट लगाना अनिवार्य कर रखा है, जैसे चालक तो मूर्ख ही हैं, जो अपने को सुरक्षित नहीं रख सकते। अब भीड़ भरे बाज़ार में, जहाँ आप जू की गति से ड्राइव कर रहे होते हैं, भला वहाँ हेलमेट का क्या औचित्य है ? मगर वहाँ भी हेलमेट न पहनने पर आप का चालान काटा जा सकता है, चाहे जून का महिना हो और तापमान 48 डिग्री छू रहा हो। भयंकर गर्मी में, विशेष कर जब गर्मी सीलन भरी हो, तो हेलमेट आप की ज्ञानेन्द्रियों पर उल्टा असर करता है, जिस से दुर्घटना की संभावनाएँ उल्टे बढ़ जाती हैं, और आप अपने साथ सड़क पर चल रहे दूसरे लोगों की जान का भी जोखिम बन जाते हैं। जिस व्यक्ति ने हेलमेट न पहन रखा हो वह अधिक सावधानी से वाहन चलाएगा, मगर हेलमेट पहनने से अधिक सुरक्षित होने की भावना के तहत थोड़ी सी लापरवाही आ जाती है, जिस से तेज़ चलाने की उत्सुकता होती है। इस तरह आप अपने साथ साथ दूसरों के लिए भी खतरा बन जाते हैं। ऐसी ही भावना सीट बेल्ट पहनने से भी आती है। इस तरह जोखिम चालक से जन साधारण की ओर स्थानांतरित हो जाता है। हम उन को बचाने के लिए क्यों मरे जा रहे हैं जिन्हें खुद को बचाने में कोई रुचि नहीं ? हमारी भूमिका परामर्श देने तक ही सीमित क्यों नहीं रह सकती ? क्यों हम दूसरों को मूर्ख समझते हैं, जो अपना बचाव नहीं कर सकते ? आप कह सकते हैं कि हेलमेट न पहने होने पर दुर्घटना की स्थिति में दूसरे वाहन वाले को मुआवजा देना पड़ेगा। तो ऐसा भी तो कर सकते हैं कि यदि हेलमेट न पहना हो तो कोई मुआवजा नहीं मिलेगा। इस से हेलमेट पहनने के लिए प्रेरणा मिलेगी। सड़क पर घूमते आवारा कुत्ते और पशु, लोगों द्वारा निर्मित अनाधिकृत स्पीड ब्रेकर, या अधिकारियों द्वारा गलत ढंग से बनाये गये स्पीड ब्रेकर चालकों के लिए जान का जोखिम बने रहते हैं। मार्ग अवरोधन, बंद, जलूस, नगर कीर्तन आदि ऐसी स्वतन्त्रता है जिस से लोगों को परेशानी होती है, और मरीजों को अस्पताल पहुँचाने में विलम्ब होता है। हमारे पास धार्मिक स्थानों पर लाउड स्पीकर पर रोक लगाने तक का साहस नहीं है, जिस से पड़ोस के लोगों को असुविधा होती है, विशेष कर छात्रों को, जिन्हें पढ़ने के लिए शांत वातावरण की आवश्यकता होती है। वहाँ रहने वाले भगवान को न मानने वालों को भजन कीर्तन बलात सुनाने का क्या औचित्य है ? जिन को सुनना है वे उस धार्मिक परिसर में जा कर भी तो सुन सकते हैं।

तो क्या सरकार को लोगों के आचार विहार से संबंधित कोई नियम कानून नहीं बनाना चाहिए ? नशीले पदार्थों व औषधियों की लत जैसे बहुत से अवगुण हैं जो थोड़ी सी असावधानी से अचेत ही जकड़ लेते हैं, जिनसे बाद में पीछा छुड़ाना कठिन हो जाता है। भोले भाले लोगों को धूर्त प्रकार के व्यक्ति चिकनी चुपड़ी बातों से फांस लेते हैं। इन के विरुद्ध पब्लिक को सुरक्षा देने की

आवश्यकता है, मगर इस की रोकथाम के लिए कानून बनाते समय भी संयम वांछित है। हमें आम लोगों को भोले पंछी और खुद को उन के एकमात्र मुक्तिदाता समझने के रुझान का त्याग करना होगा। जो स्वतन्त्रता समाज पर उल्टा प्रभाव डालती है उस पर प्रतिबन्ध लगाना होगा, मगर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सम्मान करना होगा। कितनी विचित्र बात है कि हम रेल रोकने, सड़कें जाम करने, हड़ताल या बंद के द्वारा लोगों को असुविधा पहुँचाने, सड़कों, रेल व् पार्कों में गंदगी फैलाने, मनमर्जी से जितने चाहें बच्चे पैदा कर के सब गडबड घोटाला कर देने के लिए लिए तो स्वतंत्र हैं, मगर स्वेच्छा से देह व्यापार, जुआ, दांव लगाने और ऐसी और कितनी ही और क्रियाओं के विरुद्ध कानून बनाये हुए हैं जिन से किसी और का कोई नुकसान नहीं होता। यहाँ कहे गए 'किसी और' में उस के परिवार वाले शामिल नहीं हैं, क्योंकि वे ऐसी बुराइयों के विरुद्ध समझा भी सकते हैं, और जरूरत पड़ने पर दबाव भी डाल सकते हैं। जो सरकार एक ओर जुआ खेलने के विरुद्ध कानून बना कर खेलने वाले को दंडित करती है वही सरकार दूसरी ओर खुद लाटरी के टिकट जारी कर वैध जुए का कारोबार करती है। हम फसलों को बर्बाद करते हुए बंदर या सांड को तो मार नहीं सकते; हम बिना थर्ड पार्टी इंश्योरेंस के गाडी नहीं चला सकते, मगर समाचार पत्रों में दिव्य शक्तियां होने, या जादू टोना द्वारा बिगड़े काम संवारने के विज्ञापन दे कर लोगों को लूट सकते हैं। हम जुआ नहीं खेल सकते, किसी खेल पर दांव नहीं लगा सकते, मगर लोगों को ललचा कर ठगने की स्कीम बना सकते हैं। मैं टी वी पे प्रोग्राम देख रहा था, जिस में किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के चित्र का एक भाग दिखया जा रहा था और लोगों को उसे पहचान कर फोन करने को कहा जा रहा था, जिस पर मोटा इनाम रखा हुआ था। कॉल के चार्जज थे 12 रुपया प्रति मिनट, और आप को फोन मिलने के बाद उतने समय के लिए वेटिंग पर रखा जाना था जितने समय तक अन्य कार्लें समाप्त न हो जाएँ। उद्घोषक महिला केवल इस लिए बेसिरपैर की बातें किये जा रही थी जिस से अगला नंबर आने में अधिकाधिक समय लगे और अधिकाधिक लोग होल्ड पर रहें। कितने ही शो चल रहे हैं जिन पर विजेता का निर्णय एस एम एस से वोटों द्वारा किया जाता है, और इस के चार्जज होते हैं 3 या 5 रुपये प्रति एस एम् एस। एक शीतल पेय कम्पनी बोटल के ढक्कन में लिखा अंक एस एम् एस कर प्रतियोगिता में शामिल हो कर इनाम जीतने का अवसर दे रही थी, जो 3 रुपये की दर पर भेजा जा सकता था। 'कौन बनेगा करोड़पति' में पात्रता के लिए एक मोबाइल कंपनी ने कुछ प्रश्नों के उत्तर देने की स्कीम चलाई थी और सब से अधिक सही उत्तर होने पर सम्मिलित किये जाने का प्रलोभन दिया गया था। मेरे एक सहकर्मी ने इसी चक्र में अपना बिल 1500/- रुपये बढ़ा लिया था। कितने ही प्रोग्रामों में आप से आसान सा प्रश्न पूछ कर एस एम् एस द्वारा उत्तर देने को कहा जाता है, और एस एम् एस की दर व्यवसायक रखी जाती है। मगर ये सब पर अंकुश लगाने वाला कोई नहीं है। क्या यह अवैध व्यापार प्रणाली नहीं है, जिस के विरुद्ध हम ने कानून बना रखा है ? आप कहोगे कि इन सभी के लिए पहले ही कानून बने हुए हैं। मगर हम

में से कितनों को इन के बारे पता है, और यदि सब बेरोकटोक चल रहा है तो ऐसे कानूनों का क्या लाभ ? कुछ कानून ऐसे भी हैं जो दीखते तो जन साधारण के भले के लिए हैं, मगर वास्तव में परेशान करने वाले हैं । सरकार की ई एस आई स्कीम इसी श्रेणी में आती है, जिस में लोगों को कल्याण के नाम पर लूटा जाता है ।

प्रारम्भ कौन करे

अब प्रश्न उठता है कि भ्रष्टाचार रोकने के लिए किसी कार्यक्रम की शुरुआत कौन करेगा; केवल उपरोक्त उपायों से ही नहीं, बल्कि विशेषज्ञों द्वारा सुझाये गए और भी बहुत से उपायों पर, जिन में उपरोक्त उपाय संमिलित भी हो सकते हैं और नहीं भी । महत्वपूर्ण यह नहीं है कि कौन सी पद्धति अपनाई जाये; महत्वपूर्ण यह है कि इस रोग से मुक्ति के लिए प्रयास तो किया जाये । किसी राजनैतिक पार्टी से ऐसी आशा रखना तो बुद्धिमानी नहीं होगी । यह तो हमें, भारत के लोगों को, ही डंडा उठा कर राजनीतिज्ञों को सही दिशा में हांकना पड़ेगा । जिस तरह के राष्ट्र के स्वप्न की पूर्ति के लिए महान देशभक्तों ने बलिदान दिए थे, उन सपनों को साकार करने के लिए हमें भी बलिदान भी देना पड सकता है ।

तर्कहीनता

मानवता के भौतिक और भाववाचक, दोनों ही स्वरूपों के लिए सबसे बड़ा खतरा रूढ़ीवाद में छिपा है, जो कि तर्कहीनता का ही गौण उत्पाद है। रूढ़ीवाद केवल धार्मिक कट्टरता तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है, बेशक धार्मिक कट्टरता इसी का एक भाग है। हमारे मन में कुछ मूलभूत अवधारणाएं इस कद्र घर कर जाती हैं कि हमारा दृष्टि का घेरा उसी में सीमित हो कर रह जाता है। एक बच्चे का मन सामान्यतया अपने माता पिता द्वारा बताई गई हरेक बात पर आसानी से, बिना विश्लेषण किये ही, विश्वास कर लेता है। बाद में इन विश्वासों को बदल पाना, विशेषतया निरक्षर लोगों में, बहुत कठिन होता है। इन विश्वासों का आधार विवेकपूर्ण भी हो सकता है, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण का कारण बनेगा। मगर जिस विश्वास की नींव किसी विवेक पर नहीं टिकी होती उसे हम निष्ठा कह सकते हैं। बचपन के विश्वास बहुत पक्के होते हैं। इसी लिए बच्चों की अपने माता पिता के धर्म में निष्ठा हो जाती है। यह निष्ठा बाद में समाज द्वारा इतनी पक्की कर दी जाती है कि इन्सान अलग तरह सोच ही नहीं सकता, और दोहरी जिंदगी जीने लगता है। मैं स्पष्ट करता हूँ। यदि हम धर्म और विज्ञान की विश्लेषणात्मक तुलना करें तो पाएंगे की दोनों एक दूसरे की विपरीत दिशा में हैं। मगर हमें ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जो जब विज्ञान की बात कर रहे हों तो बिल्कुल वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाये होते हैं, मगर जब धर्म की बारी आये तो भिन्न ही व्यक्तित्व नजर आएंगे। ध्यान रहे, मैंने कहा है 'विश्लेषणात्मक', क्योंकि विश्लेषणात्मक तुलना से ही पता चलेगा कि दोनों किस दिशा में चलते हैं, और वह दिशा निश्चय ही विपरीत दिशा है। सरसरी नज़र में की गई तुलना से आप को अपने धर्म में वैज्ञानिक प्रमाण दिखाई देने लगेंगे, जिनको थोड़ा सा विज्ञान का ज्ञान रखने वाले कट्टरपंथी अपने धर्म को वैज्ञानिक धर्म कहने लगेंगे। तो क्या हमें भावी पीढ़ियों के लिए केवल विज्ञान का अनुसरण ही तय करन चाहिए और धर्म का परित्याग कर देना चाहिए ? चलिए इस पहलु पर ज़रा गहन दृष्टि डाल ली जाए।

सभी धर्मों का मूल तत्व भगवान है, जिसका अलग अलग धर्मों में थोड़े बहुत अंतर के साथ एक समान सी व्याख्या की गई है। विज्ञान भगवान के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके अस्तित्व के प्रमाण नहीं हैं (न होने के भी नहीं हैं)। सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए विज्ञान का कहना है कि संभवतः सृष्टि की उत्पत्ति शून्य से पदार्थ और प्रति पदार्थ की

बराबर मात्रा में उत्पत्ति होने से हुई । पदार्थ ऊर्जा का ही प्रतिरूप है, जिसका तात्पर्य है कि शून्य से बराबर धनात्मक ऊर्जा और ऋणात्मक ऊर्जा उत्पन्न हुई, जिन का बड़ा भाग पदार्थ और प्रति पदार्थ में परिवर्तित हो गया । हम पदार्थ संसार के भाग हैं । वैज्ञानिक मानते हैं कि इसी तरह का प्रति पदार्थ संसार भी विद्यमान है । मगर प्रति पदार्थ संसार की कल्पना के साथ हम यह सम्भावना पर भी विचार कर सकते हैं कि पदार्थ में ही दोनों प्रकार की ऊर्जा हो सकती है । हरेक परमाणु प्रोटोन और इलेक्ट्रान से बना होता है जिन में विपरीत चार्ज होता है । कभी कभी कोई धर्म भी भगवान को शक्ति कहता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म कणों में भी उस की औजूदगी का दावा करता है । उस धर्म के अनुयायी इसी व्याख्या को लेकर अपने धर्म को वैज्ञानिक होने का दावा करने लगते हैं ।

तर्क की अपनी सीमाएं हैं । जहाँ तर्क दम तोड़ने लगता है वहां निष्ठा का पलड़ा भारी होने लगता है । कहा जाता है कि विज्ञान का आधार तर्क है और धर्म का निष्ठा । मगर यह कथन भी तर्कसंगत नहीं है । तर्क भी निष्ठा की तरह ही किसी विश्वास पर टिका होता है । सेब के पेड़ से धरती पर गिरने का कारण पृथ्वी का गुरुत्व आकर्षण सोचना एक अच्छा तर्क था । मगर गुरुत्व आकर्षण की मौजूदगी को मानना अपने आप में एक विश्वास है । यह बात अलग है कि इस विश्वास की प्रयोगों द्वारा पुष्टि की गई है । धार्मिक व्याख्या भी किसी विश्वास पर आधारित होती है, जो धीरे धीरे निष्ठा में परिवर्तित हो जाता है । मगर यह निष्ठा विज्ञान की तरह प्रयोगों द्वारा प्रमाणित नहीं की जाती । तो क्या जो कुछ धर्म व्याख्या करता है वह सब झूठ है ? जब विज्ञान एक प्रश्न का उत्तर देता है तो कई और प्रश्न उठ खड़े होते हैं । जब सेब के नीचे गिरने का कारण गुरुत्व आकर्षण बताया गया तो प्रश्न पैदा हो गया कि गुरुत्व आकर्षण का कारण क्या है । इस का कारण सोचा गया कि यह पदार्थ की दूसरे पदार्थ को अपनी ओर आकर्षित करने के गुण के कारण है । मगर इस गुण का क्या कारण है, यह अभी पता नहीं है । प्रकाश के कुछ गुणों की व्याख्या के लिए उसे कणों से निर्मित माना जाता है, जबकि कुछ अन्य अचंभों के लिए इसे लहर माना जाता है, जिस की खाली अन्तरिक्ष में से यात्रा के लिए पूरे अन्तरिक्ष में 'ईथर' की हास्यास्पद कल्पना की जाती है । (क्या ऐसा नहीं हो सकता कि प्रकाश बना तो कणों से ही हो, मगर जब ये कण इस माध्यम में प्रवेश करते हैं तो लहर पैदा हो जाती है?) । गैसों के प्रसार की काइनेटिक थ्यरी द्वारा की जाने वाली व्याख्या के लिए कल्पना की जाती है कि गैस के अणु पूरणतया इलास्टिक होते हैं और उन पर गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव नहीं पड़ता । यदि गैसों का व्यवहार सचमुच ही ऐसा हो तो पृथ्वी का पूरा वायुमंडल ही अन्तरिक्ष में उड़ जाये । मगर ऐसा नहीं होता, जिस का अर्थ है कि इस थ्यरी में त्रुटियाँ हैं ।

पूरा ब्रह्मांड गुरुत्वाकर्षण और केन्द्राप्सारक बल के नाजुक से संतुलन पर टिका हुआ है । सूर्य पृथ्वी और अन्य ग्रहों को गुरुत्व आकर्षण के तहत अपनी ओर खींचता है, मगर उनके सूर्य के

गिर्द घूमने से पैदा होने वाला केन्द्राप्सारक बल उन्हें बाहर की ओर धकेलता है । सूर्य और आकाश गंगा के अन्य करोड़ों सितारे ब्लैक होल के गिर्द इसी तरह के नाजुक से संतुलन के कारण घूम रहे हैं । ब्रह्मांड में ऐसी करोड़ों आकाश गंगाएं हैं, जिन में भी यही सब हो रहा है । एक दक्ष बाज़ीगर के लिए भी सुई के ऊपर प्लेट घुमाना, वह भी कुछ मिनट के लिए ही, आसान का नहीं होता । इसी सिद्धांत पर आधारित सटीक गणनाओं के बाद धरती के गिर्द घूमने वाले मानव निर्मित उपग्रह कुछ वर्षों में, या कुछ सौ या अधिकतम कुछ हजार वर्षों में, या तो धरती पर आ गिरेंगे या बाहर निकल जायेंगे । मगर ग्रहों के गिर्द उपग्रह और सूर्य के गिर्द ग्रह अरबों वर्षों से निरंतर घूमे जा रहे हैं । यह अचंभा अरबों आकाश गंगाओं के अरबों सितारों में अरबों वर्षों से लगातार घट रहा है । क्या इसके पीछे कोई दैवी शक्ति होगी या यह महज़ एक संकोच ही है ? वास्तव में संसार की प्रत्येक वस्तु ही ऐसे संतुलन पर निर्भर है । पदार्थ के सबसे छोटे कण, जिसे हम परमाणु कहते हैं, में भी प्रोटोन और न्यूट्रॉन से बने नाभिक के गिर्द इलेक्ट्रान घूमते बताये जाते हैं । अब प्रश्न उठता है के इलेक्ट्रान नाभिक के अंदर क्यों नहीं गिर जाते ? यदि यह संतुलन गुरुत्वाकर्षण और केन्द्राप्सारक बल के बीच का संतुलन है तो यह संतुलन अन्य गुरुत्वाकर्षण से क्यों नहीं बिगड़ता, जैसे धरती और सूर्य के गुरुत्वाकर्षण में तो बहुत अंतर है । और यदि इस संतुलन के पीछे कोई दैवी शक्ति है तो फिर यह संतुलन ब्लैक होल में क्यों बिगड़ जाता है ? ब्लैक होल में तो परमाणु के संघटकों के बीच की दूरी इतनी कम हो जाती है कि हमारी पृथ्वी का आकार भी 3 सेंटीमीटर के व्यास की गेंद जितना रह जायेगा, मगर इसका पुंज उतना ही रहेगा । आस्था वाले लोग तो इसे भगवान की अद्भुत रचना और प्रबंधन मानेंगे और नास्तिक इसे संयोग मात्र कह कर छुटकारा पा लेंगे ।

ब्रह्माण्ड की सबसे बड़ी पहेली शायद जीवन है । धर्म इसे भगवान की रचना मानता है, जबकि विज्ञान के अलग संदेह और विचार हैं । मैं तो न ही विज्ञान का विद्वान् हूँ और न ही किसी धर्म का पंडित । मैं इन दोनों विधाओं के तुच्छ से सामान्य ज्ञान से यह जानने का प्रयास कर रहा हूँ कि इन में से कौन सा विचार सच्चाई के अधिक निकट है । धर्म की मान्यता है कि मनुष्य का अस्तित्व उसकी आत्मा में है । विज्ञान आत्मा की पुष्टि नहीं करता । मगर विज्ञान की दी हुई व्याख्या भी कोई बहुत विश्वसनीय नहीं है । विज्ञान के अनुसार जीवन का आरम्भ लगभग चार अरब वर्ष पूर्व संयोग से ही हुआ था, जब हमारे वायुमंडल में नाइट्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड, मीथेन, अमोनिया, जल वाष्प और कुछ अन्य गैसों की मौजूदगी तो थी, मगर ऑक्सीजन नहीं थी । उस समय के तापमान पर, जो कि अब से अधिक था, इन गैसों की परस्पर रासायनिक प्रतिक्रिया से अमीनो एसिड्स का संश्लेषण हो गया, जिस से आगे प्रोटीन और अन्य जीवनदायी तत्वों का निर्माण हुआ । इन अजैविक ढंग से संश्लेषित पॉलीमर से कोअसरवेट (coacervate) बन गये, जिन में अपने चारों ओर के परिवेश में से अणु जड़ कर

लेने की प्रवृत्ति थी। इस तरह की क्रिया से ग्लूकोज़ के अपघटन की प्रतिक्रिया होने लगी, जिस से उन में वृद्धि और विभाजन होने लगा। इस तरह कोअसर्वेट का विकास सयानो बैक्टीरिया में हो गया, जिस में प्रकाश संश्लेषण द्वारा बढ़ने और विघटित होने के गुण थे। इस प्रकाश संश्लेषण का उपोत्पादन ऑक्सीजन था। बाद में इन सयानो बैक्टीरिया का ऑक्सीजन ग्रहण करने वाले जीवाश्मों में विकास हो गया। इन जीवाश्मों के और अधिक विकास से बहुकोशकीय जीवों का उदय हुआ, जो वृद्धि के लिए समसूत्रण (metosis) और प्रजनन के लिए अर्धसूत्री विभाजन (meiosis) का उपयोग करने लगे। विकास की इसी अत्यधिक धीमी कड़ी में अंत में मानव का नाम आता है। विकास एक अत्यंत धीमी मगर निरंतर होने वाली क्रिया है, जो अभी भी चल रही है।

तो मानव के शरीर में व्यक्ति का अस्तित्व किस भाग में है ? धर्म कहता है कि व्यक्ति उस शरीर में वास करने वाली आत्मा है, जो कभी नहीं मरती; बस शरीर को छोड़ कर चली जाती है, जिसे हम मृत कहते हैं। विज्ञान की मान्यता है कि व्यक्ति का अस्तित्व उस शरीर के भीतर उसके मस्तिष्क में है। मैंने विज्ञान के जीवन के सिद्धांत के आधार पर अपनी कल्पना से जीवन का एक प्रतिरूप का सृजन किया है। विज्ञान का यह विवरण कि व्यक्ति का अस्तित्व उसके मस्तिष्क में है, मुझे इस कथन का विश्लेषण करने के लिए प्रेरित करता है। इस का निष्कर्ष है कि मस्तिष्क का एक भाग जिस तरह से दूसरे संवेदक अंगों द्वारा भेजी गई सूचनाओं का निबटारा उनको भावनाओं में परिवर्तित कर के करता है वही व्यक्ति की रचना है। हमारा मस्तिष्क हमारे शरीर की अधिकतर क्रियाओं का नियंत्रण हमारे किसी तरह के हस्तक्षेप के बिना ही करता है। तो क्या इस का अर्थ यह लिया जाये कि व्यक्ति अपने मस्तिष्क का उतना सा भाग है जितना इन सूचनाओं को भावनाओं में परिवर्तित करता है ? हमारा शरीर अरबों खरबों जीवित कोशिकाओं द्वारा निर्मित है, जो एक दूसरे से इस तरह से संबंधित हैं कि उनका कार्य शरीर कि अन्य कोशिकाओं की सहायता करना और उन के हित में कार्य करना होता है। कहा जा सकता है की हमारा शरीर बहुत सी कोशिकाओं की एक कॉलोनी है। हम शरीर की बहुत सी क्रियाओं पर नियंत्रण नहीं रख सकते, मगर मस्तिष्क द्वारा दिए गए आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य हैं। तो क्या ऐसा हो सकता है कि जीवित कोशिकाओं के एक बहुत बड़े समूह ने कॉलोनी में रहने की पद्धति अपनाई हुई है ताकि अकेले रहने से पेश आने वाले जोखिम पर समूह में रहने से मिलने वाले बल द्वारा विजय पाई जा सके ? और अपने को अधिक सुरक्षित और अधिक कुशल बनाने के लिए और एक दुसरे के साथ ताल मेल बनाये रखने के लिए उन्होंने इन कोशिकाओं में संचार प्रणाली का विकास कर लिया।

कोशिकाओं की इतनी बड़ी कॉलोनी को बनाये रखने के लिए स्वाभाविक था कि किसी ऊर्जा स्रोत की आवश्यकता पड़ती। पौदों ने इस के लिए वातावरण में से ऊर्जा अर्जित करने का ढंग

विकसित कर लिया, जिस के लिए उन्होंने प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया का विकास कर लिया । जीवों की कोशिकाओं को अपनी स्वयं की ऊर्जा निर्मित करने की तुलना में पौदों और दुसरे जीवों के ऊर्जा भंडारों में सेंध लगाना अधिक आसान लगा । इस के लिए उन्हें गतिमान होने की आवश्यकता थी, जिसका विकास पहले एक कोशीय जीवों ने, फिर बहु कोशीय जीवों ने भी कर लिया । एक कोशीय जीवों में तो गति के लिए कुछ विशेष नहीं चाहिए था, मगर बहु कोशीय जीवों में कोशिकाओं के इतने बड़े समूह को चलाने के लिए सभी कोशिकाओं में तालमेल वांछित था, जिसके लिए संचार प्रणाली चाहिए थी । इस के लिए उन में मस्तिष्क के रूप में एक नियंत्रण कक्ष विकसित हो गया, जिस के पास सूचनाएँ पहुँचाने, और सूचना के विश्लेषण के आधार पर जारी किये गए निर्देशों को वापिस भेजने के लिए संवेदक अंगों का और नाड़ियों का विकास हो गया । हमें पता है कि शरीर के सभी भागों से सूचनाएँ संवेदक कोशिकाओं द्वारा विद्युत् गति से मस्तिष्क के पास पहुँचती हैं, जिन का मस्तिष्क अत्यंत शीघ्र विश्लेषण कर दूसरी कोशिकाओं के समूह के पास निर्देश भेजता है, जिन की वे पालना करते हैं । शरीर की कोशिकाओं के पास बाह्य शत्रु कोशिकाओं की पहचान की योग्यता भी होती है, जिन से शरीर रूपी कॉलोनी की सुरक्षा हेतु योद्धा कोशिकाओं की सेना भी तैयार होती है । मस्तिष्क के पास संचार प्रणाली के रास्ते पहुँचने वाली सूचनाओं को समझने और विश्लेषण करने के लिए संवेदनाओं और भावनाओं की उत्पत्ति हुई । इन्हीं भावनाओं और संवेदनाओं से जीवित कोशिकाओं की कॉलोनी के भीतर एक और जीवन की उत्पत्ति हो गयी । संवेदनाओं का यह जंतु शरीर रूपी कोशिकाओं की कॉलोनी की कोशिकाओं पर निर्भर भी था और उनका सहायक भी, जो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें गतिमान भी बनाता था । यह कुछ कुछ वैसा ही है जैसे मधु मक्खी जैसे कुछ कीड़े समूहों में रहते हैं, जिसमें मस्तिष्क रानी मक्खी की तरह और अन्य कोशिकाएं श्रमिक मक्खियों की तरह व्यवहार करते हैं । अंतर है तो इतना कि शरीर के मामले में एक व्यक्तित्व विद्यमान रहता है, जीवन के भीतर एक और जीवन, पूरणतया पृथक अस्तित्व, मगर एक दूसरे पर निर्भर ।

जीवन की यह व्याख्या आगे और प्रश्न पैदा करती है । यदि जीवन कोशिकाओं के व्यवहार पर निर्भर है, जिनको वन्शाणुओं (genes) द्वारा शरीर की रचना करने, और फिर पुरानी कोशिकाओं का त्याग कर उनके स्थान पर नई कोशिकाएं पैदा कर शरीर को बनाये रखने के लिए प्रोग्राम किया गया है, तो शरीर बूढ़ा क्यों होता है ? क्या शरीर की प्रथम कोशिका में ही बूढ़े होने की प्रक्रिया को प्रोग्राम कर दिया गया होता है ? यदि कोशिकाएं अपनी कॉलोनी के हित में जीवन के भीतर एक और जीवन का निर्माण कर सकती हैं तो वे कॉलोनी को बनाये रखने के लिए नई कोशिकाएं इस तरह से क्यों पैदा नहीं करतीं कि बुढ़ापा न आये, जिस से कॉलोनी को कुछ समय के लिए ही सुरक्षित करने की वजाए सदैव के लिए सुरक्षित करने का पर्यास किया जाये ? यदि

उनका प्रोग्राम इस तरह की कोशिकाओं के उत्पादन के लिए नहीं किया गया है तो फिर जननीय कोशिकाओं को कैसे पैदा करती हैं, जो फिर से नई कॉलोनी (शरीर) की नीव रखती हैं ? तो क्या यह सब किसी अदृश्य शक्ति द्वारा नियंत्रित किया जा रहा है, जिसे धार्मिक लोग भगवान कहते हैं, ताकि भीड़ बढ़ने से पैदा होने वाले खतरे से जीवन को बचाया जा सके ? यदि ऐसी कोई शक्ति नहीं है तो कुछ ऐसी कलाएं जो मनुष्य जन्म के बाद सीखता है, जानवरों में पहले से ही क्यों प्रोग्राम कर दी गई हैं ? हिरण के बच्चे को जन्म के समय ही पता होता है कि पास कहीं शेर से बचना है । कुछ पक्षी अपने जन्म से पहले माँ बाप द्वारा भ्रमण किये गये स्थानों पर बिना उनकी सहायता से पहुँच जाते हैं । वैज्ञानिकों ने मस्तिष्क और संवेदन प्रणाली में विद्युत् आवेग का पता लगाया है, जिस से सूचनाएँ प्रसारित होती हैं; या यूँ कहें कि भावनाएं निर्मित होती हैं । तो क्या इस आवेग को धर्म के आत्मा के सिद्धांत के तुल्य कह कर धर्म और विज्ञान को एक दुसरे का पूरक माना जा सकता है ? क्या ये छोटे छोटे विद्युत् आवेग ब्रह्माण्ड में फैली विशाल ऊर्जा का नगण्य सा भाग हैं, जैसा कि धर्म आत्मा को परमात्मा का छोटा सा भाग मानता है, जो मृत्यु के पश्चात इसी विशाल शक्ति में समा जाती है ? कुछ धर्मों का मानना है मृत्यु के पश्चात आत्मा शरीर को छोड़ कर सूक्ष्म अवस्था में रहती है । क्या भ्रूण की प्रथम कोशिका में यही आत्मा विद्यमान होती है ? या उस से पहले ही भोजन के रास्ते माता के अंडाणु में या पिता के शुक्राणु में पहुँच जाती है ? तो क्या प्रथम कोशिका को बढ़ने के लिए और शरीर की रचना करने के लिए प्रोग्राम करने का कार्य आत्मा ही करती है ? नहीं तो कोशिका के आबंटन से शरीर की रचना तो ठीक है, मगर अस्थियों की रचना कैसे हो जाती है ?

कुछ विद्वान् भगवान की तुलना प्रकृति से करते हैं । सर्वविदित है कि प्रकृति भी विशाल शक्ति है, जिसके अपने नियम हैं, जिनके विपरीत जाने से संतुलन बिगड़ जायेगा और सब गडबड हो जायेगा । उनका कहना है कि भगवान के सन्दर्भ में भी ऐसा ही है । इस धारणा को स्वीकार करने के बारे में भी सोच सकते हैं । मगर क्या वह महाशक्ति वास्तव में किसी व्यक्ति की तरह है, जैसा धर्म उसे प्रस्तुत करता है । दरअसल यह तर्क धर्म के प्रचंड अनुयायियों द्वारा दिया जाता है जो अपने धर्म की सत्यता प्रमाणित करने की ताक में ऐसा कुछ ढूँढते रहते हैं । वर्ना, यदि भगवान कोई व्यक्ति न हो कर प्रकृति जैसी किसी शक्ति का नाम है तो उसकी पूजा की क्या आवश्यकता है ? ठीक है कि हमें प्रकृति का सम्मान करते हुए उस के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए । मगर इस सम्मान में और भगवान की पूजा में अंतर है, जो हम किसी आशा में या क्षमादान की याचना के लिए करते हैं, जबकि प्रकृति का सम्मान ऐसी मंशा से नहीं होता । प्रकृति की पूजा से किसी भी अनहोनी को नहीं टाला जा सकता । पूजा से ऐसा होना तभी सम्भव है यदि प्रकृति को नियंत्रण करने के लिए कोई ऐसा व्यक्ति या शक्ति हो जिस पर पूजा का प्रभाव पड़ता हो । अतः यह कहना कि वह कोई व्यक्ति न हो कर कोई महाशक्ति है,

बिलकुल निराधार है। निष्कर्ष यह है कि धर्म उसे व्यक्ति की तरह ही मानता है, चाहे कुछ धर्म उसे बिना किसी आकार का ही क्यों न बतलाए।

हम उसके अस्तित्व को मात्र इस लिए नहीं नकार सकते कि इस का कोई प्रमाण नहीं है; मतलब कोई वैज्ञानिक या पक्का प्रमाण नहीं है। चलो परिचर्चा की खातिर थोड़ी देर के लिए उसकी उपस्थिति को स्वीकार कर लेते हैं और पूरी सृष्टि को उसकी रचना मान लेते हैं। इस बात में कुछ दम तो है, नहीं तो ब्रह्माण्ड में मौजूद इतना अधिक पदार्थ शून्य से कैसे बन सकता है? विज्ञान का स्पष्टीकरण कि यह सब शून्य में से ही धनात्मक और ऋणात्मक उर्जा के समान मात्रा में उत्पन्न होने से संभव हुआ, कुछ गले नहीं उतरती। यदि वास्तव में ही ऐसा हुआ तो अब ऐसा क्यों नहीं हो रहा है? इस सिलसिले में विज्ञान के विवरण में अभी इतना दम नहीं है और कहना पड़ेगा कि पदार्थ की उत्पत्ति की पहली अभी हल नहीं हो पाई है। तो क्या हमें धर्म की व्याख्या को स्वीकार कर लेना चाहिए? चलो, कुछ देर के लिए स्वीकार कर लेते हैं कि सब कुछ भगवान ने बनाया है। तो प्रश्न उठता है कि भगवान की रचना कैसे हुई? धर्म कहता है कि वह सर्व व्यापक है और जीवन मरण से ऊपर है। उनका कहना है कि वह अनादि काल से ही मौजूद है। यह कथन तो विज्ञान की पदार्थ की रचना से संबंधित व्याख्या से भी अधिक खोखला है। अनादि काल अपने आप में एक अस्पष्ट शब्दावली है, क्योंकि फिर प्रश्न उठेगा कि कि अनादि काल से पहले क्या था। और जिस समय भी भगवान बना, चाहे अनादी काल के समय ही सही, मगर तब भी उसे किस ने बनाया? उपरोक्त चर्चा से तो एक ही परिणाम निकलता है; वह यह कि इस चर्चा का कोई परिणाम नहीं होगा। मगर एक बात पक्की है; जहाँ धर्म जांच पड़ताल वर्जित करता है, वहीं विज्ञान अन्वेषण के द्वार खुले रखता है।

यदि हम उन वैज्ञानिकों की बात मान लें जो भगवान् को बिलकुल नहीं मानते तो हम भी धर्मान्धता से ओत प्रोत लोगों की तरह ही एक अन्य रूढ़िवाद से ग्रस्त हो जायेंगे; विज्ञान के रूढ़िवाद से। मगर यदि उस का अस्तित्व एक वास्तविकता भी है तो क्या इस से पूजा की आवश्यकता स्वतः ही बन जानी चाहिए? पूजा क्या है? साधारणतया यह उस की झूठी सच्ची प्रशंसा और पूजा करने वाले पर दया दृष्टि रखने की प्रार्थना होती है। भगवान् को सृष्टि का चालक और एक कुशल प्रबन्धक माना जाता है। किसी छोटी सी इकाई का अच्छा प्रबन्धक भी चापलूसों को अपने पास फटकने नहीं देता। तो क्या भगवान जैसी सर्वोत्तम शक्ति को पूजा जैसी चापलूसी से मूर्ख बनाया जा सकता है? यदि हाँ तो क्या सच में वह उसी सम्मान और श्रद्धा का पात्र है जिस तरह का सम्मान उसे धार्मिक लोग देते हैं? और क्या अपने किये कर्मों का उचित दंड स्वीकार करने की वजाए उस से क्षमा याचना करना हमारी कायरता नहीं? यदि वह है तो पूजा उसके लिए शर्मिंदगी है, और यदि नहीं है तो यह उपासक का उपहास है। जब कोई उपासक पूजा कर रहा हो तो एक नास्तिक को यह स्थिति कितनी हास्यस्पद लगती होगी,

जो जानता है कि वह जिस के सामने गिडगिडा रहा है वह तो है ही नहीं ! आप भी किसी पूजा स्थल पर अपने मन में यह धारणा ले कर जाएँ की भगवान का कोई अस्तित्व नहीं है, हो सके तो अपने धर्म के पूजास्थल पर जाएँ, और वहां हो रही पूजा को इसी मनोस्थिति से देखें । अब यह आप के ऊपर निर्भर करेगा कि आप उस दृश्य पर हँसते हैं या रोते हैं ।

कुछ लोग दलील देते हैं कि धर्म से समाज में अपराध कम होता है । उन का कहना है कि जब विश्वास होता है कि भगवान आप के हरेक कृत्य को देख रहा है तो आप कोई गलत कार्य करने से संकोच करते हैं, जिस से स्वच्छ समाज का निर्माण होता है । इस कथन में थोड़ी सच्चाई तो है, मगर पूरी नहीं । शायद हम भारतीय विश्व के सब से अधिक धार्मिक लोगों में से हैं । इस लिहाज से तो हमारे यहाँ सब से कम भ्रष्टाचार होना चाहिए । क्या ऐसा है ? पुराने समय में, जब तक ज्ञान का प्रसार न का होने से बुद्धि का इतना विकास नहीं हुआ था, तब तक इस में थोड़ी बहुत सच्चाई थी । मगर अब बुद्धि के विकास के साथ लोगों में धर्म के उपदेशों पर संदेह रहता है, चाहे यह संदेह अवचेतन मन में ही हो । इस कारण जब कोई व्यक्ति पाप कर रहा होता है तो उस पाप से होने वाला लाभ उसके मन में भगवान के भय पर भारी पड़ जाता है । और जब हमें अनुभव होता है कि हम ने पाप किया है तो हम प्रार्थना करते हैं कि हमें क्षमा किया जाये, न कि इस का उपयुक्त दंड दिया जाये । प्रार्थना पर विश्वास से हम समझ लेते हैं कि हमें क्षमा मिल गई है, और फिर अगला पाप करने के लिए तैयार हो जाते हैं, इस विश्वास के साथ कि फिर से क्षमायाचना कर लेंगे और क्षमा मिल जाएगी ।

धर्म के पक्षधर धर्म को ज्ञान के प्रकाशपुंज के तौर पर प्रस्तुत करते हैं । ज्ञान से तो संकीर्णता का घेरा कम होना चाहिए और सोच में विवेक आना चाहिए । मगर क्या धार्मिक लोग अपेक्षाकृत अधिक तर्कशील होते हैं ? सभी धर्म ऐसी कहानियों से भरे पड़े हैं जिन पर विश्वास नहीं किया जा सकता । मगर हम अन्य मामलों में तर्कशील होते हुए भी इन कहानियों पर विश्वास किये जा रहे हैं । क्या इसी प्रकाश का दावा धर्म करता है ? मिथ्या कहानियों को इतिहास बताने के कितने ही दावे झूठ साबित हो चुके हैं । क्या पवित्र ग्रन्थों के दावों को रद्द करने के लिए ये काफी नहीं हैं ? धर्म किसी व्यक्ति को अपने धर्मगुरु द्वारा समझाई गई बातों से परे सोचने ही नहीं देता । विज्ञान अपनी खोज को अंतिम सच्चाई नहीं मानता और लगातार प्रयोगों द्वारा परम सत्य की खोज को प्रोत्साहित करता है, जबकि धर्म अपने धर्म के विचारों को ही अंतिम सच्चाई मानते हुए बुद्धि का प्रयोग बंद कर देता है । धार्मिक लोग बुद्धि का प्रयोग करते तो हैं, मगर विश्लेषण करने के लिए नहीं कि सच्य क्या है, बल्कि यह सिद्ध करने के लिए कि जो उनके धर्मग्रन्थ में कहा गया है वही अंतिम सच्य है ।

एक और भ्रान्ति जो धार्मिक लोगों द्वारा फैलाई जाती है वह है कि धर्म विनम्रता और करुणा सिखलाता है। यदि ऐसा होता तो हम एक सहष्णु समाज होते। मगर हम अपने धर्म के प्रति इतने कट्टरपंथी हैं कि हम दूसरे धर्मों के विचारों को सरासर झूठ मानते हैं। हाँ, उनका आदर करने का ढोंग अवश्य करते हैं। यदि धर्म सहष्णु होता तो नास्तिक और काफिर जैसे शब्दों के प्रति इतनी घृणा न होती। यदि धर्म उदार और प्रकाशपुंज होता तो अयोध्या में इतना झगडा न होता। यदि हमें राजनीतिज्ञ लोग मूर्ख बना रहे हैं तो महज़ इस लिए क्योंकि हम बन रहे हैं। हम राम को ऐतिहासिक व्यक्ति माने जा रहे हैं। यदि यह एक वास्तविकता भी हो तो राम के जन्म स्थान पर मंदिर बनाने से क्या हो जायेगा ? यह मंदिर उस स्थान से कुछ मीटर दूर क्यों नहीं हो सकता ? उत्तर भारत में प्रथा रही है कि पहले बच्चे का जन्म उसके ननिहाल में होता है। तो फिर राम का जन्म उनके पैत्रिक घर में कैसे हुआ होगा ? और मुसलमानों को मस्जिद के स्थान पर मंदिर बना लेने देने में क्या परेशानी है ? उस मस्जिद का मोहम्मद साहिब या किसी खलीफा से तो कोई संबंध नहीं है। बाबर भी कोई धार्मिक संत नहीं था। तो यदि मस्जिद वहाँ से हटा कर कुछ दूरी पर बना ली जाये और सौ करोड़ लोगों की भावनाओं का सम्मान करते हुए सहर्ष वह स्थान मंदिर निर्माण के लिए सौंप दिया जाये तो क्या बुरा है ? क्या इस से इस्लाम को शांति का धर्म प्रचारित करने में आसानी नहीं हो जाएगी ? मगर नेतागण संकुचित सोच के कारण ऐसा नहीं होने देंगे, चाहे इस पर पहले से ही लगा संकीर्णता का लांछन और अधिक बढ़ जाये।

धर्म के साथ जुड़ी एक और मिथ्या है कि धर्म समाज को जोड़ कर रखने वाला एक बल है। यदि ऐसा ही होता तो संसार में कुछ ही देश होते। धर्म गिनी चुनी सभ्यताओं में बंधकबल भी होगा, मगर भारत में तो यह तोड़ने वाला बल ही साबित हुआ है, जिस ने 1947 में अन्यथा अभाज्य राष्ट्र को धर्म के आधार पर विभाजित कर दिया था। सभी धर्म आगे चल कर समुदायों और खण्डों में बंट जाते हैं जो परस्पर विरोधी होते हैं। यदि धर्म कोई संयोजक बल ही होता तो धर्म के आधार पर बने पाकिस्तान का और विभाजन न होता। एक सशक्त राष्ट्र के निर्माण के लिए धर्म की वजाए देशप्रेम अधिक कारगर है। राजनीति में धर्म का उपयोग राष्ट्र के हित में तो कुछ नहीं करता, मगर स्वार्थी लोगों को धर्म से जुड़ी भावनाओं का शोषण करने का अवसर अवश्य प्रदान करता है। इस समय की किसी भी सरकार का कर्तव्य होना चाहिए कि अपने नागरिकों की स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करे; न केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए ही, बल्कि व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता के लिए भी। इसके लिए सदियों से बंधी श्रद्धा की बेड़ियों को काटना होगा और विज्ञान, सत्य और वास्तविकता का प्रसार करना पड़ेगा।

भारत समेत आज के अधिकतर लोकतंत्र अपने को धर्मनिरपेक्ष बताने में गर्व अनुभव करते हैं। उनके लिए धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है सभी धर्मों का सम्मान। मगर सभी धर्मों के साथ

नास्तिकता का भी उतना ही सम्मान हो, तभी वास्तविक धर्मनिरपेक्षता होगी। धर्मनिरपेक्षता के लिए अंग्रेजी शब्द secular है। डिक्शनरी में इस शब्द का अर्थ है 'lack of religion in society' अर्थात् समाज में धर्म का आभाव, और 'not religious' अर्थात् धर्महीन। इस लिए धर्मनिरपेक्ष का असली अर्थ होगा किसी भी धर्म को मान्यता न देना। मगर इस से धार्मिक लोगों में रोष उत्पन्न हो जायेगा। इस लिए फ़िलहाल इसे हर व्यक्ति का निजी मामला ही रहने देना चाहिए। हाँ, लोगों को पर्याप्त मात्रा में साक्षर बनाने और उन्हें धार्मिक शिक्षाओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तुलनात्मक विश्लेषण करने के योग्य बनाने का प्रयास करते रहना होगा, जिस से वे अपनी स्वतंत्र तर्कसंगत राय बना सकें। व्यक्तिविशेष को कोई भी धर्म मानने की, या किसी भी धर्म को न मानने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

अब प्रश्न है कि क्या धर्मप्रचार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए या नहीं। यहाँ भी संतुलन बना कर रखने की आवश्यकता है। स्वतंत्रता तो निश्चय ही चाहिए, मगर इस से दूसरों की स्वतन्त्रता पर आंच नहीं आनी चाहिए; नास्तिकों की स्वतन्त्रता पर भी। इस समय तो धार्मिक स्थानों से सर्वोच्च वॉल्यूम पर लाउड स्पीकर से अपने अपने धर्मों का प्रचार किया जाता है। कई स्थानों पर तो एक से अधिक धर्मस्थानों से शोर सुनाई पड़ता है। यह सब बंद होना चाहिए। लाउडस्पीकर की ध्वनि उस धर्मस्थल के परिसर तक ही सीमित होनी चाहिए। क्या अपने धर्म की शिक्षा आस पास के सभी लोगों के कानों में बलात डालना न्यायसंगत है? जिस को सुनना है वह उस धर्मस्थल में जा कर भी तो 'लाभ उठा' सकता है। यह लाभ दूसरों पर क्यों थोपा जाता है? क्या नास्तिकों को भी अपने विचार लाउड स्पीकर पर व्यक्त करने और धर्म के विरुद्ध प्रचार करने की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए? मुझे नहीं लगता कि नास्तिक ऐसी स्वतन्त्रता मिलने पर भी इसका उपयोग करेंगे। ऐसे ही नगर कीर्तन और शोभा यात्राओं पर भी कुछ प्रतिबन्ध लगने चाहिये। आये दिन इन का उत्पात बढ़ता ही जा रहा है। मगर किसी के पास भी भजन के नाम पर शोर सुनने के लिए बाध्य होने के विरुद्ध, और किसी में भी ट्रैफिक जाम से होने वाली असुविधा के विरुद्ध कुछ करने का दम नहीं है। यदि इन्हें वर्जित करना संभव नहीं भी है तो कम से कम इन्हें व्यवस्थित तो किया ही जाना चाहिए। मगर यदि लोकतंत्र की विवशता ऐसा नहीं करने देगी तो परिणाम भयानक हो सकते हैं। पाकिस्तान की उदाहरण सामने है। क्या हम पूरे समाज को धर्मांध बनाना वहन कर सकते हैं? कोई भी महापुरुष या मसीहा अपनी निंदा या आलोचना से, या विरोधीयों की उसके बारे राय से विचलित नहीं होता। तो यदि कोई व्यक्ति उसके विरुद्ध कुछ बोल दे तो उस के अनुयायी इतना हो हल्ला क्यों मचाते हैं? यदि किसी धर्म के विचारों का विरोध निंदा है तो हर धर्म अन्य धर्मों का निंदक है। सरकार को ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए जिसमें लोग अपने धर्म को या धार्मिक गुरु के विचारों के साथ चाहे जुड़े रहें, मगर इसके साथ दूसरों के विचारों का भी आदर

कर सकें, चाहे उन के विचार उनकी श्रद्धा के विपरीत ही क्यों न हों । धार्मिक निंदा के विरुद्ध कानून, जैसे कि ब्लासफेमी लॉ, समाज को असहष्णु बना देते हैं; पहले अन्य धर्मों के प्रति और फिर अपने ही धर्म के भीतर भी, क्योंकि समय के साथ अपने धर्म की व्याख्या पर भी 'विद्वानों' में मतभेद होने लगता है और धर्म खण्डों में विघटित हो जाता है । फिर भिन्न भिन्न खण्डों के अनुयायी अन्य खण्डों के प्रति असहष्णु हो जाते हैं ।

भौतिक स्वरूप के संकट

ऊपर हम ने मानवता के भाववाचक प्रारूप पर मंडराने वाले संकटों का अवलोकन किया है । मगर भाववाचक स्वरूप भी तो तभी बचा रह सकता है जब भौतिक स्वरूप बचा रहे । इस परिचर्चा में उन प्राकृतिक आपदाओं को सम्मिलित करना, जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है, व्यर्थ होगा । यह तो ठीक है कि हमें विज्ञान के स्तर पर प्रयास जारी रखने होंगे, क्योंकि वैज्ञानिक अनुसंधानों से ही हम अधिकतर प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने के योग्य हो सकेंगे । मगर इन उपायों की चर्चा की गुंजाइश भी इस परिचर्चा में नहीं है । यहाँ पर हमारे ध्यान का केंद्र बिंदु हमारी खुद की निर्मित की हुई आपदाओं पर रहेगा । मानव निर्मित आपदाओं से विनाश का सामर्थ्य प्राकृतिक आपदाओं की अपेक्षा कहीं अधिक और अति शीघ्र हैं । मानव निर्मित संकट तो बहुत हैं, जैसे प्रदूषण, भूमंडलीय तापमान में वृद्धि (global warming), निरंतर घटते जा रहे प्राकृतिक साधन, धार्मिक आतंकवाद इत्यादि । मगर ये सभी मुख्यता दो मूलभूत समस्याओं के ही अंश हैं, जिनको अच्छे से सुलझाने से बाकी सहज ही सुलझ जाएँगी । ये दो समस्याएं हैं 'विश्व व्यवस्था की अनुपस्थिति' और 'जनसँख्या विस्फोट' । देखा जाये तो जनसँख्या विस्फोट की समस्या भी विश्व व्यवस्था के न होने का ही एक अंश है ।

हम विश्व शासन या विश्वव्यापी सरकार के बारे में सुनते रहते हैं और इसकी जरूरत भी अनुभव करते हैं । मगर श्रेष्ठ राष्ट्रों के आपसी वैचारिक मतभेदों के चलते बना नहीं पाए हैं । हमारे पास संयुक्त राष्ट्र संघ है, सुरक्षा परिषद है, और ऐसी और संस्थाएँ हैं जो विश्व समस्याओं का ध्यान

रखती हैं। मगर उनके सीमित अधिकारों के कारण उपलब्धियां वांछित स्तर से बहुत कम हैं। इस लिए एक प्रभावी विश्व शासन की आवश्यकता अभी बनी हुई है जो विश्व के मसलों को प्रभावशाली, मगर लोकतान्त्रिक, ढंग से नियंत्रित कर सके। वर्तमान के शासन प्रबंध हमें राष्ट्रवादी बनाते हैं। हम राष्ट्रीय हितों के प्रति अत्यधिक जागरूक हैं, मगर विश्व की समस्याओं के प्रति थोड़े उदासीन हो जाते हैं, विशेष कर उन समस्याओं के प्रति जिन का हमारे राष्ट्रीय हितों पर उल्टा प्रभाव पड़ता हो। राष्ट्र हित में सोचना बुरा नहीं है, मगर अति संवेदनशील विश्व समस्याओं की अवहेलना, वह भी लागत में योगदान आदि कारणों से, और अति आवश्यक कार्यवाही में रोड़ा अटकाना अच्छी बात नहीं है। विश्व हित में होने वाले अधिकतर सम्मेलन एक दूसरे पर समस्या का कारण होने और उस के समाधान का दायित्व लेने के लांछन लगाने तक सीमित रहते हैं। भाग लेने वाले देशों के राष्ट्र हित और उन की प्रभुसत्ता के कारण किसी समाधान तक पहुँचने में अडचन आती हैं। और जिस गति से हम विश्व को विध्वंस की ओर धकेल रहे हैं वह बहुत भयानक है और अतिशीघ्र कार्यवाही की जरूरत है।

किसी केंद्रीकृत प्राधिकरण की अनुपस्थिति में मानव संरक्षण के लिए बहुत से जोखिम हैं। हम परमाणु अस्त्रों के बहुत बड़े ढेर पर बैठे हैं, जिस में से यदि दस प्रतिशत भाग को भी पृथ्वी के किसी बंजर क्षेत्र में चला दिया जाये तो वह इस गृह पर से मानव की विलुप्ति के लिए काफी होगा। किन्हीं भी परमाणु शक्तियों में युद्ध से पूरी पृथ्वी को व्यापक खतरा हो सकता है। और जिस गति से तकनीकी विकास हो रहा है उस से तो छोटे छोटे राष्ट्र भी परमाणु अस्त्रधारी शक्तियाँ बन जायेंगे। सोचने की बात है कि इनका दुरुपयोग करने से हम कितनी देर तक संयम रख पाएंगे। यदि ये अस्त्र या टेक्नोलॉजी उग्रवादी संगठनों के हाथ लग गई तो? यदि कोई राष्ट्र जानबूझ कर ऐसे उग्रवादियों को ये अस्त्र दे दे तो? ये जोखिम ध्यान देने योग्य तो हैं ही। मगर कुछ खतरे ऐसे भी हैं जिनकी ओर सामान्यता हमारा ध्यान नहीं जाता, क्योंकि अभी वे इतने भयावह नहीं लग रहे। मगर जब तक हमें इनके विकराल रूप की भनक लगेगी तब तक ये धीरे धीरे बढ़ते हुए इतने बड़े हो चुके होंगे कि फिर इन्हें काबू करना असंभव हो जायेगा। ग्लोबल वार्मिंग, घटते हुए प्राकृतिक संसाधन, वायु और जल प्रदूषण, पूरे ग्रह पर से कम होता हुआ हरा आवरण ऐसे खतरों की कुछ उदाहरण हैं। मगर इस समय इन से भी बड़ा खतरा जनसंख्या का है। हम 7 अरब हो चुके हैं, और कुछ दहाकों में 14 अरब भी हो जायेंगे। इस समय भी इतने लोगों का पेट भरने में दिक्कत आ रही है, जबकि हम भूमि पर दबाव डाल डाल कर कृषि उत्पादन को इतना बढ़ा चुके हैं। मगर खेतीहर भूमि पर अत्यधिक बोझ, और साथ में खादों एवं कीटनाशकों का अंधाधुंध उपयोग, भूमि की उपजाऊ शक्ति पर उल्टा प्रभाव डाल रहा है और भूतल के नीचे वाले जलस्रोतों को भी दूषित कर रहा है। भू स्रोत, जिन पर पहले ही बोझा बहुत अधिक है, और बोझ नहीं सह पाएंगे। कई क्षेत्रों में उर्वरकों और कीटनाशकों

के उपयोग का स्तर पहले जैसा होने के बावजूद उत्पादन कम हो रहा है। तो हम इस अतिरिक्त जनसँख्या के लिए भोजन का प्रबंध कैसे करेंगे? क्या हमारा ग्रह इस अतिरिक्त जनसमुदाय का बोझ सहने के सक्षम है? क्या भूमि और अधिक उर्वरक व कीटनाशक सहन कर पायेगी? क्या हम उत्पादन को बिना स्वस्थ के जोखिम के और बढ़ा पाएंगे? इस अतिरिक्त जनसमुदाय के लिए और दूध व मांस की आवश्यकता होगी, जिसके लिए और पशु चाहिए होंगे। और इन अतिरिक्त पशुओं के कारण पहले से ही कम हो रही भूमि पर और बोझ पड़ेगा।

जनसँख्या की समस्या केवल भोजन की समस्या तक सीमित नहीं रहेगी। पूरे जनसमुदाय को अन्य सुविधाएँ भी चाहिए होंगी। उन्हें और घर चाहिए होंगे, और सड़कें, और फैक्ट्रियों की जरूरत पड़ेगी, जिससे कृषि योग्य भूमि पर और बोझ पड़ेगा। इन की पूर्ति के लिए पहले से ही सीमित संसाधनों पर और दबाव पड़ेगा। पहले से ही इतना अधिक वायु और जल प्रदूषण अब वश से बाहर हो जायेगा, जिस से सब कुछ गड़बड़ा जायेगा और भूमंडलीय तापक्रम में और वृद्धि होगी। और अधिक खनिजों व अयस्कों की खोज में हम धरती माता की छाती में और छिद्र करेंगे, जिस से लावा को बाहर निकलने के आसान रास्ते मिल जायेंगे। भोजन की अधिक मांग से समुद्रीय खाद्यों पर और दबाव पड़ेगा, जिस से पर्यावरण डगमगा जायेगा। फलतः भूमंडलीय तापमान में वृद्धि की गति और बढ़ जाएगी। इस तापमान वृद्धि से ध्रुवों पर बर्फ पिघल जाएगी और उस के नीचे दबी ढेरों मीथेन गैस बाहर निकल आएगी। इस से तापमान में वृद्धि की रफ्तार और बढ़ जाएगी। बर्फ पिघलने से संसार के समस्त समुद्र में जलस्तर 30-40 फुट ऊपर चला जाएगा, जिस से तटों की उपजाऊ भूमि जलमग्न हो जाएगी और तटीय नगर पानी में डूबने लगेंगे। तापमान में बदलाव से भू उत्पादिकता पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। फलतः भोजन का संकट उत्पन्न हो जायेगा, जिस से समाज में कलह क्लेश और अराजकता फैल जाएगी। ओजोन का सुरक्षा कवच क्षतिग्रस्त होने से खतरनाक परा-बैंगनी किरणें वायुमंडल में प्रवेश करेंगी और लोगों के स्वास्थ्य का नाश कर देंगी, जिस से और अधिक अशांति व अराजकता फैलेगी।

यूँ तो हम सभी मानते हैं कि हमारा ग्रह बहुत अधिक जनसँख्या तले दबा पड़ा है। मगर इस से भी अधिक विचारणीय है कि इस जनसँख्या का बिखराव भी अस्तव्यस्त है। जिन देशों में जनसँख्या का घनत्व इतना नहीं है वे इतनी परवाह नहीं करते, क्योंकि उन पर इसका इतना दुष्प्रभाव नहीं है, चाहे कालान्तर में वे भी प्रभावित अवश्य होंगे। और जिन देशों में जनसँख्या अधिक घनी है उनके पास इसे नियंत्रित करने के पर्याप्त साधन नहीं हैं। किसी देश में पाए जाने वाले प्राकृतिक संसाधन देखने में तो उसी देश की संपत्ति लगते हैं। मगर यह एक भ्रान्ति ही है। वास्तविकता यह है कि इन संसाधनों का उपयोग अन्य देशों द्वारा भी किया जाता है। जैसे, मध्य पूर्वी देशों में पाया जाने वाला तेल अन्य देशों के लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना उन के लिए। और जब तक संसाधनों की खपत उन के प्राकृतिक सृजन से अधिक रहेगी

तब तक वे कम होते होते समाप्ति की ओर बढ़ते जायेंगे । अतः जनसँख्या नियंत्रण की आवश्यकता पूरे विश्व को है, न कि केवल घनी आबादी वाले देशों को । हमें जनसँख्या नियोजन का कोई कारगर तरीका अपनाना होगा; और जल्दी अपनाना होगा, क्योंकि पहले ही बहुत देरी हो चुकी है । विश्वव्यापी सरकार की अवधारणा इस कार्य के लिए सुविधाजनक होगी, मगर ऐसी सरकार की स्थापना अभी दूर का सपना है । और इस समस्या को ऐसी सरकार के बनने तक टालने का जोखिम नहीं उठाया जा सकता ।

जनसंख्या में निरंतर वृद्धि के कारणों की जांच की जाये तो प्रमुख कारण होंगे प्राकृतिक कारण, मनोविज्ञानिक कारण और मानव का सामाजिक व्यवहार । बच्चे की इच्छा बच्चों के प्रति प्राकृतिक मोह के कारण हो सकती है । कई बार तो बच्चे का जन्म संयोग मात्र ही होता है । इस तरह का प्रजनन प्राचीन युग में तो ठीक था, या फिर पशुओं में ठीक है । मगर कहीं कहीं यह अभी भी प्रचलित है, विशेष तौर पे भारत समेत कुछ पछड़े देशों में रह रहे गरीबी रेखा के नीचे के लोगों में । मगर अब, जब हमें इतनी समझ आ गई है कि इस तरह का अनियोजित प्रजनन न तो परिवार की सामाजिक स्थिति को उबारने में सहायक होता है और न ही देश या समाज के हित में है, तो हमें सुनियोजित परिवार की ज़िम्मेदारी को निभाना होगा, ताकि जन्म लेने वाला बच्चा राष्ट्र की सम्पत्ति बने, न कि समाज का कोई दायित्व । मनोविज्ञानिक तौर पर बच्चे की इच्छा हमारे मृत्यु के प्रति भय में से उत्पन्न होती है । सभी जानते हैं कि हर किसी को कभी न कभी मरना है । हमारे धार्मिक और सामाजिक ढांचे जाने अनजाने इस भय को भुनाने के लिए अपने बच्चों के माध्यम से मृत्यु के बाद जीवित रहने के सपने दिखाते रहते हैं, विशेष कर पुत्रों के माध्यम से । चाहे किसी को नहीं पता कि मरने के बाद मनुष्य का क्या होता है, मगर हमारे धर्म कर्म के कथित विशेषज्ञ दूसरी दुनिया के ऐसे सपने दिखाते हैं कि अधिकतर लोग उन पर विश्वास कर लेते हैं । यहाँ तक कि विश्वास करने वालों में पढ़े लिखे लोग भी होते हैं, जो शायद अल्प आयु से ही उनके मन में धर्म के प्रति श्रद्धा ठूसे जाने के कारण इस भ्रान्ति से निकल नहीं पाते । ऐसे विश्वास का आधार हमारे अंदर सदैव जीवित रहने की चाह हो सकता है । चाहे बहुत से लोग ऐसे विश्वास के प्रति दुविधा में भी रहते हैं, मगर विश्वास किये जाते हैं कि क्या पता दूसरी दुनिया की बात सच ही न हो । इसी अविश्वास और विश्वास के बीच हम बच्चों की लालसा बनाये रखते हैं कि दूसरी दुनिया न भी हो तो उन से इस दुनिया में तो हमारा नाम चलता रहेगा । नाम बनाये रखने के लिए बच्चे पैदा करना सबसे आसान ढंग है । इस समस्या के बने रहने के लिए विकासशील देशों में सामाजिक कारण भी कम ज़िम्मेदार नहीं हैं । विकासशील देशों में बुढ़ापे में सहारा देने वाली योजनायें नगण्य ही हैं । इस लिए वहाँ संतान को, या यूँ कहें कहें कि पुत्रों को ही बुढ़ापे का सहारा माना जाता है । मगर भविष्य में ऐसे सहारे से आशा उतनी ही अनिश्चित है जितना कि भविष्य स्वयं । मगर यदि

कुछ मामलों में यह आशा पूरी भी हो जाये तो क्या अभिवावकता इतनी स्वार्थी होनी चाहिए कि बच्चों के पालन पोषण के इवज में कुछ वापिसी की आशा रखे ? सृष्टि के सभी जीव अपने बच्चों का निःस्वार्थ पालन पोषण करते हैं । मगर हमें बच्चे चाहिये बुढ़ापे के सहारे के तौर पर । और फिर भी हम अपने मानव होने पर गर्व करते हैं !

समझा जाता है कि इन मनोविज्ञानिक और सामाजिक अवरोधों को शिक्षा के द्वारा पार किया जा सकता है, अर्थात् आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा से । और निःसंदेह यह सच भी है । मगर ऐसा कर पाना इतना आसान नहीं है । और जब तक हम संसार भर में सम्पूर्ण शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त होने की प्रतीक्षा करें, जो की शायद ही प्राप्त होगा, तब तक हम इस ग्रह का इतना विनाश कर चुके होंगे कि उसे रोक पाने में ही असमर्थ हो जायेंगे । इस लिए जो भी करना होगा अभी करना होगा । जिन देशों में समाजिक सुरक्षा योजनायें नहीं हैं उन्हें ऐसी योजनायें बनानी होंगी, कम से कम जिन के बच्चे नहीं हैं उन के लिए तो बनानी ही चाहिएँ । और जिन में ऐसी योजनायें हैं वहां ऐसे लोगों को अतिरिक्त सुविधाएँ देनी चाहिएँ । वंश वृद्धि के लिए या बुढ़ापे के सहारे के लिए पुत्र की चाह में कई बार कितनी ही लड़कियां पैदा हो जाती हैं । हमारे धर्म और समाज में ऐसे रिवाज हैं कि लड़कियों को वंशावली में सम्मिलित नहीं किया जाता । दहेज प्रथा और अन्य व्यर्थ के खर्चों के कारण पुत्रियों को बोझ समझा जाता है । और इस बोझ से छुटकारा पाने के लिए हम अनैतिक गर्भ परीक्षण व कन्या भ्रूण हत्या जैसे पाप करते हैं । जरूरत केवल प्रजनन को सुनियोजित करने की ही नहीं है, बल्कि पुत्र और पुत्री में भेदभाव वाली मानसिकता को बदलने की भी है ।

एक ही सन्तान के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, जो कि भारत जैसे घनी जनसंख्या वाले देशों के लिए आवश्यक है, बच्चे को अपने पिता, या अपने माता, दोनों में से किसी का भी, या दोनों का ही नाम अपनाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए । इसी तरह बच्चे की मर्जी होनी चाहिए कि वह अपने माता पिता या सास ससुर में से किसी एक को, या दोनों को सहारा दे; या किसी को भी न दे तो भी उस की मर्जी । सरकार को इस तरह के अधिनियम बनाने होंगे जिन में इस तरह की स्वतंत्रता का प्रावधान हो । मगर इस के साथ साथ अच्छी शिक्षा प्रणाली की भी व्यवस्था करनी होगी । सरकार द्वारा परिवार नियोजन के लिए स्थापित किये गये मानदंडों पर खरा उतरने वालों के लिए योग्य प्रोत्साहन की व्यवस्था करनी चाहिए; और विरुद्ध जाने वालों को ऐसे प्रोत्साहनों से वंचित रखना चाहिए । निर्धन लोगों के लिए सस्ते राशन की सुविधा, सरकारी नौकरियों में आरक्षण, कम फीस, कम व्याज पर ऋज, बचत खातों पर अधिक व्याज और ऐसी ही और सुविधाएँ उनके परिवार नियोजन के प्रारूप के अनुसार तय की जा सकती हैं । जिनके बच्चे नहीं हैं उनके लिए अतिरिक्त पेंशन का प्रावधान किया जा सकता है और एक सीमा से ऊपर बच्चों वाले लोगों को पेंशन से वंचित रखा जा सकता है । मैं तो नियोजित परिवार के

बच्चों के लिए भी उच्च सरकारी पदों में कुछ अंक रखे जाने के पक्ष में हूँ। सुनने में तो यह अनैतिक लगेगा, क्योंकि अधिक बच्चे होने में तो माता पिता का हाथ है; फिर बच्चों को इसका दंड क्यों भुगतना पड़े ? फिर इसी तर्क के आधार पर हम कथित उच्च जाति के बच्चों को अपने पित्रों की गलती का दंड क्यों देते हैं जब हम उनकी नौकरियाँ छीन कर धनवान 'दलितों' को दे देते हैं ? उन बच्चों का क्या दोष है जिन्हें अपने अभिभावकों की गलती के कारण अभाव का जीवन जीना पड़ता है। जब लोगों को समझ आ जाएगी कि उन के पृथ्वी पर भीड़ बढ़ाने वाले कृत्य उनके अपने हित के विरुद्ध जायेंगे, जिससे उनके अपने बच्चे उन्हें कोसेंगे, उन्हें बुढ़ापे में मिलने वाली सुवधाओं से वंचित रहना पड़ेगा, तो वे हर कदम फूंक फूंक कर रखेंगे।

और चूँकि यह समस्या विश्वव्यापी है और इस के प्रभाव भी विश्वव्यापी हैं तो इस के समाधान का प्रयास भी विश्व स्तर पर करना होगा। सघन जनसंख्या वाले देशों के पास धन की पर्याप्त मात्रा नहीं होती। विकसित देशों को ऐसी निधि में अधिक योगदान डालना चाहिए और संयुक्त राष्ट्र संघ को जनसंख्या गतिविधियाँ निधि (UNFPA) का विस्तार करना चाहिए। UNFPA को सघन जनसंख्या वाले राष्ट्रों के जनसंख्या नियोजन कार्यक्रम में क्रियाशील व सकारात्मक योगदान देना चाहिए।

जैसा मैंने पहले भी कहा है, ये सुझाव संपूर्ण नहीं हैं। इन के इलावा और भी बहुत से समाधान सोचे जा सकते हैं। यहाँ पे सुझाये गए समाधानों में भी संशोधन किया जा सकता है जिससे उनका और अच्छे से उपयोग किया जा सके। मगर कोई न कोई कार्यवाही होनी चाहिए, और जल्दी होनी चाहिए। और इस काम में लगे इतने सारे बुद्धिमान लोगों के होते हुए मुझे नहीं लगता अधिक मुश्किल आयेगी। मगर विश्वव्यापी सरकार वाला यह समाधान भी स्थाई समाधान नहीं होगा। मगर मुझे लगता है कि विश्वव्यापी सरकार होने से यह समस्या छोटी अवश्य हो जाएगी। वर्तमान की संघीय सरकार वाली प्रणाली विश्वव्यापी सरकार पर लागू की जा सकती है, जिसमें आज के देशों के निर्वाचित सदस्य मुख्य सदन में अपने प्रतिनिधि भेज सकते हैं और मंत्रिमंडल का गठन चुनाव द्वारा सदन कर सकता है। कुछ विशेष क्षेत्रों की प्रतिनिधिता के लिए नियम संविधान में डाले जा सकते हैं, जोकि व्यापक शोध के बाद बनाना होगा। इस समय ये विचार असंगत लग सकते हैं, मगर यदि इन की उपयोगिता पर विचार किया जाये तो इन्हें लागू करने के लिए लहर बन सकती है।

पृथ्वी पर भिन्न भिन्न देश होने के दुष्प्रभाव हम स्वतः ही समझ सकते हैं। सभी राष्ट्र मनमर्जी से व्यवहार करते हैं। यदि हितों के टकराव के कारण युद्ध न भी हो तो भी उन्हें अपनी प्रभुसत्ता बनाये रखने के लिए विशाल सेना रखनी पड़ती है। इसके लिए उन्हें जनसाधारण पर असामान्य करों का बोझ डालना पड़ता है जिससे उनकी आय 40-50 प्रतिशत कम हो जाती है। युद्ध की

स्थिति में यह लागत और भी अधिक हो जाती है। यदि किसी देश को सेना न रखनी पड़े तो हमारे इस संसार की दशा कितनी सुहानी हो सकती है ! इस बचत से होने वाले निवेश पर अर्थशास्त्र के गुणक प्रभाव के कारण संसार की अर्थव्यवस्था में आश्चर्यजनक वृद्धि होगी। इस समय के राष्ट्र विश्वव्यापी सरकार के संघीय ढांचे में राज्यों की तरह कार्य कर सकते हैं जिन पर उस राज्य की कानून व्यवस्था का दायित्व रखा जा सकता है। केन्द्रीय विश्व सरकार के पास भारत के केन्द्रीय रिज़र्व पुलिस बल की तर्ज़ पर अपना केन्द्रीय पुलिस बल हो सकता है, जिका काम किसी राज्य में आपात की स्थिति में स्थानीय पुलिस की सहायता करना या भगौड़े दोषियों को ढूँढने में सहायता करना हो सकता है। इस संसार का वह रूप कितना सुखद होगा जब हमारा पूरे विश्व में एक ही विशिष्ट पहचान पत्र होगा और हम कहीं भी बिना वीसा के यात्रा कर सकेंगे ! इसके लागू होने के बाद, जो कि यहाँ सुझाये गये या किसी अन्य रूप में कभी न कभी लागू होगा ही होगा, तो हमारा यह वाला युग पृथ्वी का सब से खराब अंधकार भरा युग कहलायेगा; पाषाण काल से भी गया गुज़रा। उस युग में कम से कम राष्ट्रीय सीमायें तो नहीं थीं। हम में से कुछ को, विशेष कर विकसित देशों को इस तरह की स्वतंत्र यात्रा अटपटी लगेगी, मगर विश्वास कीजिये, राष्ट्रीय सुरक्षा पर होने वाले भरी भरकम व्यय की बचत को जब विकास कार्यों में निवेश किया जायेगा तो इतना विकास होगा कि घर से बाहर काम ढूँढने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। हाँ, पर्यटन के लिए अवश्य अधिक लोग जायेंगे, जिसके लिए हम आज भी आँखें बिछाए रहते हैं। यदि फिर भी लगे कि कुछ नगरों में भीड़ बढ़ जाएगी तो ऐसे नगरों में अधिवास नियम (domicile rules) लगाये जा सकते हैं।

पृथ्वी के एक ही राष्ट्र बन जाने से जनसंख्या नियन्त्रण, शिक्षा प्रसार, अविवेक की रोकथाम, शिक्षा, आतंकवाद इत्यादि के मसलों का समाधान बहुत आसान हो जायेगा। मगर इसे वास्तविकता में बदलने में समस्याएं अवश्य आयेंगी। हमारे परस्पर विरोध और कुछ देशों के तानाशाहों के स्वार्थ आसानी से ऐसा होने नहीं देंगे। इन स्वार्थी लोगों द्वारा धर्मांध व्यक्तियों की सहायता से लोगों के मनो में फैलाया गया अंधकार उन्हें प्रकाश से अवगत नहीं होने देगा। हमें अपनी यह मनोदशा बदलनी होगी कि दूसरे देश के टुकड़े करने से हमें लाभ होगा। हमें किसी देश के टुकड़े करने की वजाए टुकड़ों में बंटे देशों को जोड़ कर बड़े देश बनाने का प्रयास करना होगा। अभी हम पूरे विश्व को एक राष्ट्र बनाने वाले विचार को आंशिक रूप में अपना सकते हैं, अर्थात् कुछ समरूप देशों को संयुक्त सरकार के लिए प्रेरित करें। ऐसा करने से उनका सुरक्षा व्यय पहले की तुलना में फिर भी कम होगा। और ऐसा हो जाने से होने वाले लाभ को देखते हुए अन्य देशों के लोग भी अपनी सरकारों को ऐसा करने के लिए बाध्य करेंगे। नहीं होंगे तो धर्मान्धता से प्रदूषित समाज वाले देश, मगर वे भी कभी न कभी मुख्या धारा में आ ही जायेंगे।

उपरोक्त विचार न तो संपूर्ण ही हैं और न ही त्रुटी रहित । आवश्यकता यह नहीं कि इन्हें पूरणतया लागू किया जाये, मगर कोई कदम उठाया तो जाये; सभी मसलों का इकट्ठा समाधान करने की वजाए एक एक करके निबट लिया जाये; इस धारणा को अव्यवहारिक कह कर खिल्ली न उड़ाई जाये, बल्कि और अधिक प्रभावशाली ढंग ढूँढने का प्रयास किया जाये और मानवता की समृद्धि व उसके अस्तित्व संरक्षण में सहायता की जाये ।